ପ୍ରଥମ ଭାଗ

कथा-सरिता

[कथा सरित्सागर से संकलित]

रूपान्तरकार
द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

प्रकाशक
भारतीय बुक कारपोरेशन
दिल्ली-7

प्रकाशक : भारतीय बुक कारपोरेशन
1, यू० वी० जवाहरनगर, बँग्लो रोड,
दिल्ली-7

वितरक : भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बा० 108, कचौड़ी गली
वाराणसी-221001

लेखक : द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' ©

चतुर्थ संस्करण : 1979
मूल्य : 4.50

मुद्रक—ए० के० प्रोसेस
द्वारा
डीलक्स आफसेट प्रिंटर्स
दिल्ली-110035

द्वितीय संस्करण

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में, आवश्यक संशोधनों के अतिरिक्त, प्रथम संस्करण की दो कथायें—'घट और कर्पर की कथा' तथा 'उन्मादिनी की कथा'—हटा दी गई हैं। उनके स्थान पर 'शिव और माधव की कथा' एवं 'पिंगलिका की कथा' संकलित की गई है।

आज की ज्वलन्त समस्या 'परिवार नियोजन' पर, शताब्दियों पुरानी एक प्राचीन कथा में विदुषी पिंगलिका के विचार सुनिये।

प्राक्कथन

प्राकृत का ही एक रूप पैशाची भाषा है। पुरातन काल में कभी पैशाची प्राकृत ही लोक भाषा के रूप में पश्चिमोत्तर प्रदेश—खासतौर पर कश्मीर में, प्रचलित थी—भाषाशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है।

महाकवि गुणाढ्य ने इसी पैशाची प्राकृत में 'वृहत्-कथा' की रचना की थी। वृहत्-कथा का रचना-काल ईसा की प्रथम शताब्दी निर्धारित किया गया है। गुणाढ्य राजा सातवाहन का राज्यमंत्री था और सातवाहन का काल प्रथम शताब्दी प्रायः सुनिश्चित है।

संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः यत्र-तत्र वृहत्-कथा एवं गुणाढ्य का नामोल्लेख मिलता है। वासवदत्ता, काव्यादर्श, हर्षचरित, कादम्बरी, नलचम्पू और कुवलयानन्द के रचनाकारों ने वृहत्-कथा की आदर से चर्चा की है।

परन्तु वह पैशाची प्राकृत वाली मूल वृहत्-कथा अब कहीं भी उपलब्ध नहीं है। उसका केवल संस्कृत अनुवाद ही मिलता है।

संस्कृत में अनूदित वृहत्-कथा के तीन रूप अब तक प्राप्त हुये हैं।

प्रथम संस्कृत रूप—आठवीं-नवीं शताब्दी में नेपाली बुद्धस्वामी रचित 'वृहत् कथा श्लोक संग्रह' है।

दूसरा रूप—प्रसिद्ध कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र द्वारा ग्यारहवीं शताब्दी में लिखी गई 'वृहत्-कथा मंजरी' है।

और तीसरा रूप है—'कथा सरित् सागर', जिसकी रचना कश्मीरी कवि सोमदेव भट्ट ने की है। सोमदेव भट्ट का काल ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी है।

इस संग्रह की कथाओं का संकलन सोमदेव भट्ट के 'कथा सरित् सागर' से ही किया गया है।

संस्कृत पद्य को ही हिन्दी गद्य में रूपान्तरित करके कुछ कथाओं का इस रूप में प्रस्तुत किया गया है। रूपान्तरण में, इसका ध्यान रक्खा गया है कि–किसी भी पद्य का पूरा-भाव छूटने न पाये और कथा का मूल रूप ज्यों का त्यों सुरक्षित रहे।

इस कथा-संकलन का प्रधान उद्देश्य यही रहा है कि–आज का पाठक अपने प्राचीन कथा-साहित्य से परिचित हो सके।

दो हज़ार वर्ष पुराने, भारतीय कथा-साहित्य में कहानी-तत्त्व कितनी यथेष्ट मात्रा में और कितने स्वाभाविक रूप में विद्यमान है––यह जानकारी भी इस संकलन से विज्ञ पाठक को हो सकेगी।

मानव के सुख-दुख और हर्ष-विषाद, मानव की उदात्त भावनायें और गर्हित चरित्र, व्रत-निष्ठा और कुटिलता भरी धूर्तता, तरुणी नारी के रूप-लावण्य का जादू, उसकी विवेकशालिनी बुद्धि, उसकी ममता-करुणा और दृढ़ चरित्र-बल, ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी प्रवृत्ति, त्याग-स्वार्थ––इन सबका कितना सजीव चित्रण महाकवि गुणाढ्य ने किया है, सहृदय पाठक इन कथाओं में देख पायेंगे। आनन्द तो मिलेगा ही, प्रभावित भी होंगे।

वृहत् कथा की रचना कैसे हुई ?--इसकी भी एक अलग कहानी है। संकलन के अन्तिम पृष्ठों में वह अद्भुत कथा पढ़िये।

अनुक्रम

१. नागार्जुन की कथा	...	...	१
२. वीरवर की कथा	...	...	६
३. तरुणचन्द्र की कथा	...	...	१४
४. मानपरा की कथा	...	...	२१
५. कार्पाटिक की कथा	...	...	२८
६. मूलदेव की कथा	...	...	३३
७. मौनव्रती की कथा	...	...	४४
८. उपकोशा की कथा	...	...	४७
९. विक्रमसिंह की कथा	...	...	५३
१०. हरिशर्मा की कथा	...	...	५७
११. श्रीदत्त की कथा	...	...	६२
१२. शिव और माधव की कथा	...	...	७७
१३. पिंगलिका की कथा	...	...	८६
१४. गुणाढ्य की कथा	...	...	९५

कथा-सरिता

नागार्जुन की कथा

राजा का नाम चिरायु था और नगर का भी नाम चिरायु था। उसका मन्त्री था नागार्जुन, जिसकी बोधिसत्त्व के अंश से उत्पत्ति हुई थी और जो अतिशय दयालु, दानशील तथा बुद्धिशाली व्यक्ति था। रसायनशास्त्र में भी वह पारङ्गत था। अपनी इस विद्या के सहारे उसने स्वयं अपने को और अपने राजा को जरा-रहित एवं चिरजीवी कर लिया था।

अचानक एक दुर्घटना हो गयी। मन्त्री नागार्जुन का एक पुत्र मर गया। इस पुत्र के प्रति नागार्जुन का अतिशय स्नेह था। पुत्र की मृत्यु से व्यथित नागार्जुन ने निश्चय किया कि मर्त्यलोकवासियों की मृत्यु पर नियन्त्रण किया जाय। तब उसने 'अमृत रसायन' की रचना के लिये ओषधि-संग्रह किया।

यह अमृत रसायन योग प्रायः तैयार हो गया था। उसमें केवल एक ओषधि का सम्मिश्रण ही अवशिष्ट था कि देवों के देव इन्द्र को इसका पता चल गया। इन्द्र ने देवताओं से मन्त्रणा करके अश्विनीकुमारों को नागार्जुन के पास भेजा, यह सन्देश देकर—'तुम यह क्या कर रहे हो? मन्त्री होकर अनीति की ओर अग्रसर क्यों हो रहे हो? क्या तुम प्रजापति को जीतने की कामना कर रहे हो? प्रजापति के द्वारा निर्मित इन मरणधर्मा मानवों को अमृत पिला कर क्या तुम देवताओं के समकक्ष उन्हें अमर बना देना चाहते हो? यदि तुम्हारी यह योजना सफल हो जाती है तो देवों और मनुष्यों में आख़िर क्या अन्तर रह जायेगा? यष्टव्य और याजक, पूज्य और पूजक का जो एक भाव है, जिससे इस जगत् की स्थिति चल रही है, वह क्रम अनायास ही टूट जायेगा। इसलिए, मैं तुम्हें सम्मति दे रहा हूँ—मेरी बात मानकर इस अमृत रसायन की रचना को

छोड़ दो। अन्यथा सारे देवता तुम पर कुपित हो उठेंगे और निश्चय ही तुम्हें अभिशप्त कर देंगे। तुम्हारा पुत्र, जिसकी मृत्यु पर तुम इतने व्यथित हो, तुम्हें मालूम होना चाहिए कि वह स्वर्ग में आ पहुँचा है। अब तुम और क्या चाहते हो ?'

अश्विनीकुमार यह सन्देश लेकर नागार्जुन के पास जा पहुँचे। पूरी बात जानकर नागार्जुन इस सोच में पड़ गया कि—यदि मैं इन्द्र का आदेश नहीं मानता हूँ तो अन्य देवताओं के कुपित होने की बात जाने दो, मुझे शाप देने के लिये तो ये दोनों अश्विनीकुमार ही पर्याप्त हैं। ठीक है, मैं अमृत की संरचना अब नहीं करूँगा। मेरा मनोरथ सिद्ध न हो तो भी क्या है! अपने प्राग्जन्म के सुकृत्यों से पुत्र ने सद्गति पा ली है। अब मुझे और क्या चाहिए?

नागार्जुन ने विनयपूर्वक अश्विनीकुमारों से निवेदन किया—'महानुभावो, यदि आप इस समय मेरे पास नहीं आते तो केवल पाँच दिन के भीतर मैं अमृत की सिद्धि कर लेता और यह सारी पृथ्वी अजरा-अमरा हो गयी होती। मैं देवाधिदेव इन्द्र की आज्ञा को नतशिर होकर स्वीकार कर रहा हूँ। अब अमृत की रचना कदापि नहीं करूँगा।'

और सचमुच ही नागार्जुन ने क़रीब-क़रीब तैयार उस अमृत को गड्ढा खोदकर मिट्टी में, अश्विनीकुमारों की उपस्थिति में ही, दबा दिया।

अश्विनीकुमारों ने स्वर्ग में जाकर जब देवराज को यह सन्देश सुनाया तो वे परम सन्तुष्ट हुए।...

राजा चिरायु ने अपने एक पुत्र जीवहर को युवराज पद पर अभिषिक्त किया। युवराज बना वह राजपुत्र हर्षित होता हुआ अपनी माता रानी घनपरा के पास प्रणाम करने पहुँचा तो माता ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—'बेटा, यह युवराज पद पाकर तुम व्यर्थ ही इतने आह्लादित हो रहे हो। इस पद को तुम किसी तपस्या के बल से तो पा नहीं रहे हो। यह तो केवल परम्परा का पालन हो रहा है। तुम जानते हो, तुम्हारे कितने भाई युवराज बने और दुनिया से चले गये। किसी को भी राज्य-प्राप्ति न हुई, यह विडम्बना देखो। तुम्हें शायद मालूम न हो, मन्त्री नागार्जुन महान् आयुर्वेदज्ञ है। उसने राजा को एक ऐसा रसायन खिला दिया है, जिसके बल से वह सैकड़ों वर्षों तक इसी

प्रकार जीवित रहेगा। न तो उस पर बुढ़ापा आयेगा और न वह मृत्यु की ओर जायेगा।

'कौन जानता है कि तुम्हारी तरह और कितने राजकुमार युवराज बनेंगे और राज्यसिंहासन पर बैठने की अभिलाषा लिये ही इस दुनिया से चले जायेंगे! इस स्थिति में यदि सचमुच ही तुम राजा बनने के इच्छुक हो तो मैं तुम्हें एक उपाय सुझा रही हूँ।

'मन्त्री नागार्जुन प्रति दिन स्नान-पूजा से निवृत्त होकर आहार करने के पूर्व इस प्रकार की घोषणा करता है कि--'किसे क्या चाहिये, जो उसे दिया जाय?' तो तुम ऐसा करो कि ठीक उसी समय नागार्जुन के आगे पहुँच कर माँग पेश करो कि 'मुझे अपना सिर दीजिये।' सत्यवादी नागार्जुन निश्चय ही अपना वचन पूरा करेगा और तुम्हारे लिये अपना सिर काट देगा। उसके मरने पर तुम्हारा पिता यह राजा या तो मन्त्री के शोक में स्वयं मर जायेगा या वीतराग होकर वनवासी हो जायेगा। बस, राज्यप्राप्ति का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय तुम्हारे लिये नहीं है।'

माता की सम्मति से राजपुत्र को सन्तोष हुआ। उसने मन में निश्चय किया—'मैं ठीक ऐसा ही करूँगा, जैसा माँ ने निर्देश दिया है।'

राज्य-लोभ कितनी बड़ी चीज़ होती है कि आदमी जिस पर बड़े से बड़े स्नेह का भी बलिदान अनायास ही कर देता है!

जैसा कि राजपुत्र जीवहर ने निश्चय कर लिया था—ठीक भोजन की बेला पर, वह नागार्जुन के सम्मुख जा खड़ा हुआ। सदा की भाँति नागार्जुन ने अपनी घोषणा दुहराई—'किसे क्या चाहिये, जो उसे दिया जाय?' और जीवहर ने तत्काल नागार्जुन से उसके सिर की माँग कर दी।

इस माँग पर नागार्जुन क्षण भर के लिये स्तब्ध रह गया। फिर उसने शान्तभाव से राजपुत्र से कहा—'वत्स, मुझे आश्चर्य हो रहा है कि मेरे सिर का तुम क्या करोगे? आख़िरकार मेरा यह सिर है क्या? मांस, अस्थि और केश—इनका एक समूह ही तो है। तब यह ऐसी बेकार-सी चीज़ तुम्हारे किस काम आयेगी? तुम इसका क्या उपयोग करोगे? फिर भी यदि तुम्हारा इससे कुछ कार्य सिद्ध होता हो तो लो इस सिर को अभी काट लो।'

नागार्जुन ने अपनी गर्दन उस राजपुत्र के आगे झुका दी। लड़के ने पूरी सामर्थ्य से नागार्जुन की गर्दन पर खड्ग-प्रहार किया। गर्दन नहीं कटी। खड्ग टूट गया। वह दूसरा खड्ग लाया और फिर वही हुआ। गर्दन नहीं कटी। खड्ग टूट गया। इस तरह जब बार-बार राजपुत्र खड्ग-प्रहार कर रहा था और नागार्जुन की गर्दन नहीं कट रही थी—अचानक राजा चिरायु उधर आ पहुँचे। राजा उस दृश्य से स्तम्भित रह गये। उन्होंने अपने पुत्र का हाथ पकड़कर उसे आगे प्रहार करने से रोक दिया।

तब नागार्जुन ने राजा चिरायु से निवेदन किया—'महाराज, मुझे अपने पूर्व जन्मों का स्मरण है। इसके पूर्व अपने निन्यानबे जन्मों में भी मैं अपने सिर का दान कर चुका हूँ। यह मेरा सौवाँ जन्म है और इस जन्म का भी शिरोदान मुझे करना ही है। इसलिये आप कुछ भी न बोलें। क्योंकि मेरे द्वार से कभी कोई प्रार्थी खाली हाथ नहीं लौटा। आपके इस पुत्र के लिये मैं अपना यह सिर दूंगा ही। केवल आपसे अन्तिम भेंट करने के लिये ही जान-बूझकर मैंने इतना विलम्ब किया।'

बात यह थी कि नागार्जुन की गर्दन रसायन-प्रयोगों के कारण इतनी दृढ़ बन गयी थी कि उस पर किसी भी शस्त्र का कोई प्रभाव होता नहीं था। अपने प्रिय राजा का आलिङ्गन करने के बाद नागार्जुन अपने ओषधिभण्डार से एक चूर्ण निकाल लाया और राजपुत्र के कृपाण पर उसका लेप कर दिया। फिर राजपुत्र से कहा—'अब तुम कसकर मेरी गर्दन पर प्रहार करो।'

नागार्जुन ने गर्दन झुकायी। राजपुत्र ने कृपाण का प्रहार किया। सड़ाक से नागार्जुन का सिर ऐसे कट गया मानो किसी कमल को उसके डण्ठल से तोड़ दिया गया हो।

राजा चिरायु अपने प्रिय सखा के इस असह्य वियोग से जब प्राणत्याग करने को उद्यत हो गये तो नगर में चारो ओर हाहाकार मच गया। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाय और कैसे राजा की प्राण-रक्षा हो। तब सहसा आकाशवाणी हुई—'राजन्, यह अकार्य मत करो। तुम्हारा यह सखा नागार्जुन सर्वथा अशोच्य है, और अपुनर्जन्मा होकर बुद्ध के समान गति को प्राप्त हो गया है।'

इस अशरीरी वाणी को सुनकर राजा प्राण-त्याग से तो विमुख हो गया, परन्तु उसका हृदय इस घटना से इतना व्यथित हो उठा था कि राजसिंहासन तजकर वह वीतराग हो वन में चला गया। और वहाँ घोर तपस्या करके अन्त में परमगति को प्राप्त हो गया।

इस प्रकार जीवहर को पिता का राज्य मिल गया। परन्तु वह अधिक दिनों तक राज्य-सुख नहीं भोग सका। देखते-देखते राज्य में चारो ओर अराजकता फैलने लगी और उसी अस्थिरता के बीच पिता के वध से क्षुब्ध हुए नागार्जुन के पुत्रों ने जीवहर का वध कर दिया। पुत्र की इस मृत्यु से शोकविह्वला माता का भी प्राणान्त हो गया। अनाचार के मार्ग पर चलनेवालों का भला कल्याण कैसे हो सकता है?

मन्त्रियों ने सोच-समझकर दूसरी रानी के शतायु नाम वाले पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया।

इस प्रकार नागार्जुन की यह अद्भुत कहानी समाप्त हो गयी।

इस पृथ्वी के प्राणियों की मृत्यु पर विजय की जो कल्पना नागार्जुन ने की थी, देवताओं ने उसे नहीं सहा और स्वयं नागार्जुन भी मृत्यु के मुख में चला गया।

दुखों से भरी हुई यह दुनिया अनित्य ही रह गयी। आज हम प्राणियों के बीच कोई भी मृत्यु पर विजय पाने के लिये हज़ार कोशिशें क्यों न करे, कुछ भी फल नहीं होगा। होगा वही जो विधाता चाहेगा।

———

वीरवर की कथा

किसी ज़माने में, विक्रमपुर महानगर में कोई विक्रमतुंग नामवाला क्षत्रिय राज कर रहा था। उसके शासनकाल में तीक्ष्णता यदि कहीं थी तो केवल तलवारों में, आसक्ति यदि कहीं थी तो केवल धर्म में। ऐसा वहाँ सुशासन था।

विक्रमतुंग राजा के पास कभी मालवदेश वासी वीरवर नामक एक शूर ब्राह्मण आजीविका के लिये आया। उस शूर ब्राह्मण का परिवार सीमित ही था—उसकी जीवन सहचरी धर्मवती, उसका प्रिय पुत्र सत्त्ववर और उसकी प्यारी बेटी वीरवती—बस, यही तीन प्राणी उसके घर में थे।

तीन ही चीज़ें उसके पास जीविका के साधन के रूप में थीं—कमर से लटकती तलवार, एक हाथ में ढाल और दूसरे में एक शोभन दर्पण। इसी सामग्री के सहारे वह राजा से वृत्ति की प्रार्थना कर रहा था और वेतन माँग रहा था—पाँच सौ दीनार प्रति दिन।

राजा ने कुछ सोच-समझकर और उस शूर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर प्रतिदिन पाँच सौ दीनार वाली उसकी माँग स्वीकार कर ली। सिंहद्वार पर, प्रहरी के पद पर उसकी नियुक्ति कर दी। मन में सोच लिया—देखना चाहिये, यह व्यक्ति अपना क्या कमाल दिखलाता है।

दस-बारह दिन बीत जाने पर, राजा ने अपना गुप्तचर उसके पीछे यह जानने के लिये लगाया कि आख़िर यह ब्राह्मण प्रतिदिन पाये उन पाँच सौ दीनारों का क्या करता है?

गुप्तचर के द्वारा राजा को पता चला कि—वीरवर प्रतिदिन सौ दीनार तो घर-गृहस्थी चलाने के लिये अपनी पत्नी को सौंप देता है। सौ दीनारों से वस्त्र और माला इत्यादि ख़रीदता है। सौ दीनार स्नान के उपरान्त देवताओं के पूजन-अर्चन में व्यय कर देता है। शेष दो सौ दीनार ब्राह्मणों को और दरिद्र अनाथों को दान कर देता है।

राजमहल के सिंहद्वार पर सबेरे तड़के से लेकर दोपहर तक वह अपना कर्त्तव्य पूरा करता। फिर घर जाकर भोजन करता। लौटकर फिर सिंहद्वार पर आ खड़ा होता और सारी रात उसी तरह पहरा देते बिता देता।

इस प्रकार केवल स्नान-पूजन और भोजन के समय को छोड़ कर वह ब्राह्मण लगातार अविचल भाव से सिंहद्वार पर खड़ा रहता।

इसके बाद, वीरवर की मानो परीक्षा लेने के लिये ही वर्षा ऋतु वहाँ आ गयी। चारो ओर से काले-कजरारे बादल उमड़-घुमड़ आये और फिर मूसलाधार पानी बरसने लगा।

परन्तु वीरवर उस घनघोर वर्षा में भी स्तम्भ की तरह निश्चल होकर सिंहद्वार पर बराबर खड़ा रहा।

राजा विक्रमतुंग जब-तब अपने महल की खिड़की से उसे सिंहद्वार पर खड़ा देखते। फिर एक बार रात में भी राजा को जिज्ञासा हुई और वह अपने महल की खिड़की पर जा खड़े हुये। चारो ओर झमाझम वर्षा हो रही थी। राजा ने ऊपर की मंज़िल से पुकार कर पूछा—'सिंहद्वार पर कौन है?'

नीचे खड़े वीरवर ने तत्काल ऊँचे स्वर से कहा—'महाराज, मैं वीरवर यहाँ खड़ा हूँ—आपका सेवक।'

तब राजा अपने मन में विचार करने लगे—निश्चय ही यह व्यक्ति महान् पराक्रमी और महान् धृतिशाली है। ऐसी घनघोर वर्षा में भी जो सिंहद्वार को नहीं छोड़ रहा है, वह कोई सामान्य प्राणी नहीं हो सकता। वास्तव में, यह व्यक्ति तो किसी उच्च पद पर ही रखने के योग्य है। इसको कौन-सा पद देना चाहिये?

खिड़की पर खड़े राजा यह विचार कर ही रहे थे कि दूर से किसी नारी के करुणस्वर में रोने की आवाज़ सुनाई दी। राजा के मन में संशय जागा, मेरे राज्य में कोई भी प्राणी दुखी नहीं है। तब फिर यह कौन नारी है, जो ऐसी निचाट रात में इस तरह ज़ार-ज़ार रो रही है? उन्होंने तत्काल पुकार कर कहा—'वीरवर, कोई नारी कहीं रो रही है। ज़रा पता तो लगाओ कि वह कौन है और उस पर क्या दुख आ पड़ा है।'

वीरवर ने नीचे से ऊँचे स्वर में प्रत्युत्तर दिया—'प्रभु, मैं अभी जाकर पता लगाता हूँ।' और अपनी तलवार लेकर वह चल पड़ा। ऊपर राजा खड़े देखते रहे—बादल चारो ओर लदे हुये हैं। बिजली कड़क रही है, बरसते पानी से ज़मीन-आसमान एक हो रहा है, कहीं कुछ भी सूझ नहीं पड़ रहा है—ऐसे समय में यह आदमी यों ही बढ़ता चला जा रहा है! आश्चर्य है!

राजा के हृदय में करुणा आ उपजी। वे अपने राजमहल से नीचे उतर आये और तलवार हाथ में लिये छिपकर वीरवर का पीछा करने लगे।

राजा छिपकर पीछा कर रहे हैं—इस बात से नितान्त अनभिज्ञ ब्राह्मण वीरवर रोने की आवाज़ के सहारे मेंह में आगे बढ़ता गया—बढ़ता गया और नगर के बाहर, एक सरोवर के किनारे जा पहुँचा। वहाँ उसने करुण स्वर में रोती एक नारी को देखा। वह नारी रो-रो कर विलाप कर रही थी—'हाय मेरे नाथ, हाय कृपालु, हाय शूर-शिरोमणि, तुम्हारे बिना मैं कैसे रह पाऊँगी? कैसे प्राण धारण करूँगी?'

वीरवर ने उसके आगे होकर प्रश्न किया—'भद्रे, किसके लिये तुम यह विलाप कर रही हो? तुम्हारे इस शोक का कारण क्या है? कौन है तुम्हारा नाथ? दया करके मुझे पूरी बात बतलाओ।'

तब नारी ने रुदन के बीच ही कहा—'बेटा वीरवर, मैं इस राज्य की वसुन्धरा हूँ। राजा विक्रमतुंग ही मेरा नाथ है। परन्तु हाय, आज से तीसरे दिन ही निश्चित रूप से उसकी मृत्यु हो जायेगी। बेटा, ऐसा धर्मात्मा, ऐसा तेजस्वी, प्रजावत्सल और शूर पति मैं अब कहाँ पाऊँगी? इसी शोक से व्यथित होकर अवश, निरुपाय मैं विलाप कर रही हूँ।'

देवी वसुन्धरा के मुख से ऐसी दारुण बात सुनकर वीरवर ने धीर स्वर में पूछा—'माता, महाराज की रक्षा का भी कोई उपाय है क्या? ऐसा कोई उपाय, जिससे उनकी जीवन-रक्षा हो सके?'

वसुन्धरा ने मन्दस्वर में हौले-हौले कहा—'एक ही उपाय है बेटा, और वह तुम्हारे ही हाथ में है।'

इतना सुनते ही वीरवर प्रसन्नभाव से कह उठा—'माता, यदि सचमुच कोई उपाय है तो तुम निःसंकोच मुझसे कहो। अपने स्वामी के कल्याण हेतु

यदि मुझे अपने प्राण, अपनी सहचरी और अपनी सन्तान का भी बलिदान करना पड़े तो मैं अपने जीवन को सफल मानूँगा। अब कहो माँ !'

उत्तर में देवी वसन्धुरा ने बतलाया—'राजमहल के समीप भगवती चण्डिका का पुण्य स्थान है। यदि तुम अपने एकमात्र पुत्र सत्त्ववर का उपहार भगवती चण्डिका को चढ़ा दो तो राजा की जीवन-रक्षा हो सकती है। इसके अतिरिक्त राजा के जीवित रहने का अन्य कोई उपाय नहीं है।'

तब धृतिशाली वीरवर ने अकम्पित स्वर से कहा—'माता, मैं जा रहा हूँ। मैं वही करूँगा, जो तुमने अभी कहा है।'

माता वसुन्धरा ने स्नेह-भरी वाणी में हौले से कहा—'तुम्हारे सिवाय अपने स्वामी का ऐसा हितकारी भला और कौन होगा ? भगवान तुम्हारा कल्याण करें। जाओ तुम।'

और इतना कह कर देवी वसुन्धरा तिरोहित हो गईं।

स्तब्ध खड़े राजा यह सब सुनते रहे। फिर छिपे-छिपे ही वह वीरवर का पीछा करने लगे।

उसी बरसती रात में, तेज़ कदमों से चलता वीरवर अपने घर तक आया। गहरी नींद में सोई पत्नी धर्मवती को कन्धा हिलाकर जगाया। सारी स्थिति समझाई। अन्त में कहा—'स्वामी के लिये तुम्हें अपने पुत्र का उपहार देना है। देवी वसुन्धरा मुझसे यही कह गई हैं।'

वीरवर की साध्वी पत्नी ने यह सुनकर शान्तभाव से कहा—'जैसे भी हो, आपको अपने स्वामी की जीवन-रक्षा करनी है। बेटे को जगा लीजिये। उससे यह बात कहिये।'

वीरवर ने अपने बेटे को जगाया और वह सब सुना दिया जो देवी वसुन्धरा ने कहा था। परन्तु बालक सत्त्ववर न तो इस समाचार से काँपा और न तनिक भी घबराया। उसने धीरभाव से कहा—'पिता, प्रभु की रक्षा के लिये यदि मेरे प्राण जाते हैं, तो क्या मैं भाग्यशाली नहीं हूँ ? मैंने उनका अन्न खाया है। मुझे उसका बदला चुकाने दीजिये। आप मुझे ले चलिये और चण्डिका के चरणों में मेरी बलि दे दीजिये।'

बेटे की ऐसी दृढ़ता-भरी वाणी सुनकर वीरवर ने अपना सीना तान कर केवल एक ही वाक्य कहा—'तुम वास्तव में मेरे पुत्र हो।'

राजा विक्रमतुंग घर के बाहर खड़े सब सुनते रहे और भारी मन से सोचते रहे—कैसा आश्चर्य है! यह पूरा परिवार—ये सभी जीव कितने महाप्राण हैं!

वीरवर ने बेटे को अपने कन्धे पर बिठाया और चण्डिका-मण्डप की ओर चल दिया। उसकी पत्नी धर्मवती और धीरे-धीरे सिसकती उसकी बेटी वीरवती—ये दोनों भी पीछे-पीछे चल दीं। राजा विक्रमतुंग उसी तरह छिपे-छिपे पीछा करते रहे।

पिता के कन्धे से उतर सत्त्ववर मन्दिर के भीतर पहुँचा तो उस धैर्यशाली बालक ने भगवती चण्डिका को प्रणाम करके प्रार्थना की—'माँ, मेरे सिर का उपहार ले लो। हमारे प्रभु के प्राणों की रक्षा करो। हमारे प्रभु राजा विक्रमतुंग इसी तरह इस धरती पर निष्कंटक राज्य करते रहें।'

तब बिना विलम्ब किये पिता वीरवर ने तलवार खींचकर अपने बेटे सत्त्ववर का सिर काट दिया और भगवती चण्डिका के चरणों में बेटे के कटे सिर को रखकर केवल एक वाक्य कहा—'राजा का कल्याण हो।'

जो वस्तुतः सच्चे स्वामिभक्त होते हैं, उनके लिये न तो अपने पुत्र का कोई मूल्य होता है और न अपने प्राणों का।

सहसा आकाशवाणी हुई—'साधु वीरवर, साधु, तुमने अपने पुत्र के प्राण देकर राजा के प्राणों की रक्षा कर ली है।'

विस्मित होकर राजा विक्रमतुंग यह सब देख-सुन रहे थे। वीरवर की बेटी वीरवती कन्या अपने मृत भाई के सिर को कलेजे से लगाकर बार-बार चूमने लगी और 'हाय मेरा भैया! हाय मेरा भैया!' कहकर करुणक्रन्दन करने लगी। क्रन्दन करते-करते ही उस कन्या के सुकुमार हृदय की गति रुक गई और प्राणों का पंछी जाने कहाँ उड़ गया।

बेटे और बेटी को इस तरह मृतावस्था में देख, वीरवर की पत्नी ने हाथ जोड़कर दीनता भरे स्वर में पति से विनय की—'राजा की रक्षा हो गई है। दया करके अब मुझे इतनी आज्ञा दे दो कि मैं अपने बच्चों की लाशों के साथ

चिता में बैठ जाऊँ। मेरी अबोध बेटी भाई के शोक में चली गई। अब मैं इस जीवन को लेकर क्या करूँगी ? मेरे दोनों बालक चले गये हैं। अब मैं किसके लिये ज़िन्दा रहूँगी ?'

वीरवर ने साँस खींचकर कहा—'ठीक है, ऐसा ही करो। तुम्हारे लिये सन्तान के बिना इस दुनिया में भला क्या सुख रह गया ? थोड़ी देर प्रतीक्षा करो। मैं चिता सजा दूँ।'

चारो ओर से लकड़ियाँ बटोरकर वीरवर ने चिता बना दी। बच्चों की लाशें उस पर रख दीं। फिर मन्दिर के दीप से चिता में अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी।

धर्मवती ने एक बार पति के चरणों में प्रणाम करके काँपती वाणी से कहा—'आर्यपुत्र, अगले जन्म में भी तुम्हीं मेरे पति होना। प्रभु राजा का कल्याण करें !' इतना कहकर वह साध्वी नारी धधकती चिता में ऐसे बैठ गई मानो किसी शीतल सरोवर में डुबकी लगा रही हो।

कोने में छिपकर खड़े राजा विक्रमतुंग भावाविष्ट होकर मन ही मन कहने लगे—भगवान्, मैं इन लोगों से अब कैसे उऋण हो पाऊँगा ?

उधर धीरचेता वीरवर स्तब्ध खड़ा सामने धधकती चिता को अपलक ताकता रहा और मन ही मन सोचता रहा—स्वामी का कार्य सम्पन्न हो गया। मैंने जिस मालिक का अन्न खाया, उसका बदला चुका दिया। परन्तु अब ?

जो केवल मेरे ऊपर आश्रित था, जिसके लिये मैं जीवित था, मेरा वह प्राणों से प्यारा कुटुम्ब इस चिता में भस्मीभूत हो चुका। अब केवल अपना पेट भरने के लिये जीवित रहने का मेरे निकट कोई अर्थ नहीं है। भगवती चण्डिका के चरणों में अब मैं अपने इन अभागे प्राणों की बलि क्यों न दे दूँ ?

एक दृढ़ निश्चय करके वीरवर देवी के आगे हाथ जोड़कर बैठ गया। देवी का स्तोत्र-पाठ पूरा करके अन्त में प्रार्थना की—'माँ, दया करो। मेरे शीश का उपहार भी स्वीकार करो। मेरे प्रभु का हर प्रकार से कल्याण हो, यही मेरी अन्तिम विनती है।'—ऐसा कह कर जब वीरवर खड्ग उठा अपने हाथ से ही अपना सिर काटने लगा तो सहसा अशरीरी आकाशवाणी गूँज उठी—'वत्स, ऐसा साहस मत करो। खड्ग नीचे रख दो। तुमने अपने

स्वामी के लिये पूरे परिवार की बलि दे दी। तुम्हारी इस दृढ़ता से, कर्त्तव्य-निष्ठा और स्वामिभक्ति से मैं परम प्रसन्न हूँ। अपना अभीष्ट वर मुझसे माँग लो।'

वीरवर ने याचना की—'माँ, यदि तुम सचमुच मुझसे सन्तुष्ट हो तो आशीर्वाद दो कि राजा विक्रमतुंग आगे और सौ साल तक जीवित रहें। मेरी सहचरी और मेरे दोनों बालक जीवित हो उठें—इतनी करुणा और करो माँ!'

करुणामयी भगवती चण्डिका के अनुग्रह से वीरवर का पूरा परिवार—पत्नी, पुत्र और पुत्री, तीनों ही अपनी पूर्वावस्था में पुनः जीवित हो उठे। आनन्द से विह्वल हुआ वीरवर उन तीनों को घर ले गया। उन्हें वहाँ सकुशल पहुँचा कर फिर अपने स्थान—उसी सिंहद्वार पर जा खड़ा हुआ

राजा विक्रमतुंग यह सारा दृश्य देखकर विस्मय और हर्ष से अवाक् रह गये। आश्चर्य में डूबे उसी तरह छिपकर आये, अपने महल में चढ़ गये और खिड़की पर खड़े होकर आवाज़ दी—'सिंहद्वार पर कौन है?'

नीचे खड़े वीरवर ने ऊँचे स्वर में कहा—'महाराज, मैं यहाँ खड़ा हूँ। जिस नारी को देखने गया था, उसका कुछ पता नहीं चला। प्रभु, वह न जाने कहाँ लुप्त हो गई!'...

...सारी रात राजा को उस अचरज भरी घटना की याद आती रही और सारी रात वे सोचते रहे—यह कोई अदृष्टपूर्व महापुरुष है, जो ऐसा श्लाघनीय कार्य करके भी अपने मुख से उसकी चर्चा तक नहीं कर रहा है। यह व्यक्ति अतिशय गम्भीर भी है। विशाल-हृदय भी है और महाप्राण भी है। भयंकर वात्याचक्र के बीच भी निश्चल खड़े रहनेवाले इस धृतिशाली ने अपने आगे समुद्र को भी मानो तुच्छ कर दिया है। सोच नहीं पा रहा हूँ कि जिस आदमी ने परोक्षरूप से मेरे लिये अपनी सन्तान और अपनी सहचरी के प्राण इतनी सरलता से बलि दे दिये, उस आदमी का प्रत्युपकार मैं किस प्रकार करूँ।

दिन निकला तो राजा विक्रमतुंग ने भरी राजसभा में वीरवर के इस अद्भुत चरित्र की कहानी अपने मुख से सुनाई। बलिदान भरी उस कहानी को सुन-

कर समस्त सामन्त, मन्त्री और अधिकारी क्षण भर स्तब्ध रह गये। फिर एक स्वर से सभी लोग वीरवर की प्रशंसा करने लगे—उसे साधुवाद देने लगे।

राजा विक्रमतुंग ने वीरवर और उसके पुत्र को अपने हाथों से स्वर्णमुकुट पहिनाया और ढेरों रत्नाभूषण, ढेरों स्वर्ण मुद्रायें, हाथी-घोड़े और ज़मीन उपहार स्वरूप दी।

तब से फिर वह ब्राह्मण वीरवर किसी राजा की तरह ही अपने पूरे परिवार के साथ जीवनयापन करने लगा।

की कर्त्तव्यनिष्ठा की यह एक अद्वितीय कहानी है।

तरुणचन्द्र की कथा

किसी समय विलासपुर नगर में कोई विनयशील नामक राजा निवास कर रहा था। अपनी प्राणों से प्यारी धर्मपत्नी रानी कमलप्रभा के साथ वह चिरकाल तक भोगों में डूबा रहा।

परन्तु काल तो किसी के सुख-दुख की प्रतीक्षा करता नहीं। नदी की लहर जैसे उतर जाती है और फिर लौटकर नहीं आती, समय का भी यही हाल है। समय बीता और राजा पर धीरे-धीरे बुढ़ापा आने लगा। उसकी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगीं और मुख की कान्ति भी मलिन होने लगी, झुर्रियाँ पडने लगीं चेहरे पर।

तब राजा विनयशील मन ही मन दुखी होने लगा और सोचने लगा—यदि यही हाल रहा तो इस चेहरे से मैं किसी सुन्दरी नारी को कैसे आकर्षित कर पाऊँगा? इससे तो अच्छा है कि मैं अपने जीवन को ही समाप्त कर दूँ।

चिन्तना करते-करते अचानक एक दिन उसे नगर के प्रसिद्ध वैद्य तरुणचन्द्र की याद आई। तत्काल ही उसने वैद्य को बुला भेजा। एकान्त में ले जाकर वैद्य से उसने पूछा—'तुम्हारे पास कोई ऐसी युक्ति है क्या कि जिससे मेरा यह बुढ़ापा आने से रुक जाय और मेरी युवावस्था फिर से लौट आये?

तरुणचन्द्र वैद्य छँटा हुआ धूर्त्त आदमी था। वह फ़ौरन ही समझ गया कि यह राजा महामूर्ख है। खोई हुई जवानी को फिर से पाने के लिये व्याकुल है। जवानी अब भला क्या लौटेगी, पर मैं इसके द्वारा अपना उल्लू तो सीधा कर ही सकता हूँ।

धूर्त्त वैद्य ने झटपट राजा के सामने एक योजना रख दी। बड़े विश्वासपूर्वक उसने राजा से कहा—'महाराज, यदि आप अपने महल में एक तहख़ाना बनवा कर उसमें आठ मास तक एकाकी निवास करते हुये मेरे बनाये रसायन का सेवन करें, तो आपका यह बुढ़ापा देखते-देखते उड़ जायेगा, आप फिर से नौजवान हो जायेंगे और अनन्त काल तक सुख-भोग कर सकेंगे।'

विषय-लोलुप मूर्ख प्राणी, वह चाहे राजा हो या कंगाल, विचारपूर्वक कोई काम नहीं कर पाता। यही स्थिति उस राजा की हुई। उसने आनन-फानन में अपनी चिकित्सा के लिये तहख़ाना बनवा लिया।

परन्तु मन्त्री वैद्य की धूर्त्तता को समझ गया था। मन्त्री ने राजा को इस योजना से विरत करने की चेष्टा की। उसने समझाया—'प्रभु, अतीतकाल में कभी ऐसे रसायन रहे हों, तो रहे हों, परन्तु आज तो इन रसायनों का नाम ही नाम है। अब तो इन वैद्यों के ये रसायन, उचित सामग्री तथा विधि-ज्ञान के अभाव में लाभ की जगह हानि ही अधिक करते हैं। आपको इस वैद्य की बातों में नहीं फँसना चाहिये। महाराज, भला सोचिये तो किसी की गई हुई जवानी क्या कभी फिर से लौटकर आई है?'

हितचिन्तक मन्त्री की यह सम्मति राजा के कानों में नहीं गई। उसका मन तो भोग की तृष्णा से आकुल-व्याकुल था। मन्त्री की बात वह भला काहे को मानता? उसने बस वैद्य की बात ही मानी। एकान्त तहख़ाने में चुपचाप जा लेटा और रसायन चाटने लगा।

वैद्य तरुणचन्द्र ने राजपरिवार के किसी भी व्यक्ति को राजा के पास जाने से रोक दिया था। उसने अपना एक विश्वसनीय सेवक राजा की सेवा-शुश्रूषा के निमित्त नियुक्त कर दिया था। रसायन के नाम पर वह प्रतिदिन राजा से धन खींच रहा था।

इस प्रकार छः मास व्यतीत हो गये। अँधेरे बन्द कमरे में लेटे रहने से राजा पर और अधिक बुढ़ापा दीखने लगा तो वैद्य का माथा ठनका। क्या करना चाहिये—क्या करना चाहिये? सोचते-सोचते धूर्त्त वैद्य ने एक तरकीब निकाल ली। उसने एक ऐसे व्यक्ति को खोज निकाला, जिसकी आकृति राजा से थोड़ी-बहुत मिलती-जुलती थी और लम्बाई में भी जो राजा के बराबर ही था। वह व्यक्ति देखने-भालने में सर्वांगसुन्दर और पूर्ण युवा था।

उस युवा को वैद्य ने अपनी योजना बतलाई और लोभ दिया कि एक दिन वह उसे यहाँ का राजा बना देगा। शर्त्त यही है कि वह वैद्य के कथनानुसार सारे कार्य करता जाय।

युवा व्यक्ति ने वैद्य की शर्त्त सिर झुकाकर स्वीकार कर ली। विश्वास दिलाया—जो कुछ बतलाया जायेगा, वह बिना रुके करेगा।

जहाँ राजा लेटा रहता था, उस तहख़ाने तक वैद्य ने गुप्तरूप से सुरंग खोद डाली। उसी सुरंग की राह युवा व्यक्ति को साथ लिये तरुणचन्द्र वैद्य तहख़ाने में जा पहुँचा। रसायनों के प्रयोग से अर्धमृत हुआ राजा एकाकी सो रहा था। वैद्य ने बड़ी सरलता से राजा की हत्या करवा दी। उसकी लाश को रात ही रात दूर ले जाकर एक अन्धे कुँये में फिकवा दिया। फिर उस सुरंग को भी भरवा दिया।

एक सामान्य चरित्र का आदमी किसी मूढ़मति को यदि पा जाय तो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये वह क्या नहीं कर बैठता?

अगले दिन वैद्य ने राज-परिवार और पुरवासियों को बुलाकर घोषणा की—'सज्जनो और देवियो, आप लोग देखिये, मैंने किस तरह महाराज को छः महीने में ही युवा बना दिया है। बस, दो मास और बीतने दीजिये, तब आप देखेंगे कि महाराज की रूपश्री कैसी मनोरम हो गई है। एकदम नया रूप ही आप देख पायेंगे। आओ भाइयो, आगे आओ, एक बार दूर से ही अपने स्वामी का दर्शन कर लो।'

अनेक लोग तहख़ाने के आग आ खड़े हुये। उन सब ने आधे अँधेरे में दूर से ही देखा—एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति लेटा हुआ है। सभी चकित रह गये। सभी ने वैद्य की प्रशंसा की।

अगले दो महीने वैद्य ने उस नक़ली राजा की शिक्षा-दीक्षा में ख़र्च किये। वैद्य ने उस युवा व्यक्ति को सारे राजपरिवार के एवं अधिकारियों के नाम और पद याद कराये। वे सारे राजा वाले रंग-ढंग सिखाये, जिनसे वह युवा सर्वथा अपरिचित था।

आठ मास पूरे होते ही, वैद्य तरुणचन्द्र ने नक़ली राजा को तहख़ाने से बाहर ला खड़ा किया। अतिशय रूपवान्, तेजस्वी एवं बलशाली राजा का दर्शन कराके वैद्य बड़ी शान से बोला—'मेरे रसायनों का प्रभाव देख लो। ये वही राजाजी हैं, जिन पर बुढ़ापा घिर आया था। अब इनकी रूपश्री देखो!

एक बार सभी लोग ज़ोर से बोलो—'महाराजाधिराज विनयशील देव की जय !' उस जय जयकार से राजमहल गूँज उठा।

वैद्य की पूरी योजना सफल हो गई। वह युवा व्यक्ति उस राज्य का अधिपति बन बैठा। उसने अपना नया नाम 'अमरदेव' रख लिया। वह बेरोक-टोक अन्तःपुर में जाने लगा। रानी कमलप्रभा तथा अन्य तरुणियों के साथ उसकी घनिष्ठता हो गई। सारी जनता विश्वास कर रही थी—यह वैद्य तरुणचन्द्र के रसायनों का ही चमत्कार है, जिससे हमारे महाराज फिर से युवा हो गये हैं।

नक़ली से असली राजा बना वह व्यक्ति वस्तुतः बहुत ही विद्या-बुद्धि सम्पन्न था। उसने समस्त राज्य-कार्य बड़ी कुशलता से सम्हाल लिये। अपनी व्यवहार-कुशलता से रानी कमलप्रभा का मन जीत लिया। जनता को सन्तुष्ट कर दिया। भेषजचन्द्र और पद्मदर्शन नामक दो उसके अभिन्न सखा थे। उन दोनों को ही प्रधान अमात्य का पद दे दिया। सब कुछ ठीक-ठीक चलने लगा। परन्तु नये राजा ने वैद्य तरुणचन्द्र का न तो तनिक भी विश्वास किया और न उसे राज्य में कोई उच्च पद ही दिया।

इस व्यवहार से खिन्न होकर उसने एक दिन एकान्त पा नये राजा से निवेदन किया—'यह तुम क्या कर रहे हो भाई ? मैंने ही तुम्हें राजा बनाया है, अच्छी तरह जानते हो। परन्तु तुम्हारा यह हाल है कि अपनी इच्छा से ही सब कुछ करते चले जा रहे हो और मुझे तुमने दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर कर दिया है। अपने अतीत जीवन को शायद तुम भूल गये हो।'

नये राजा ने हँसकर कहा—'मित्र, मैं अपने अतीत को नहीं भूला हूँ। वस्तुतः तुम्हीं मूर्ख हो। कौन आदमी किसको क्या बनाता है और कौन किसको क्या देता है ? बन्धु, यह तो मनुष्य का अपना प्राक्तन कर्म-संचय ही होता है, जिसके बल पर उसके जीवन में ऊँच-नीच आते रहते हैं। तुम अपने मन से इस भ्रम को निकाल ही दो कि तुमने मुझे राजा बनाया है। तुम शायद नहीं जानते कि यह सब कुछ मेरी तपःसिद्धि का परिणाम है। थोड़ी प्रतीक्षा करो, बहुत जल्दी मैं तुम्हें इस तथ्य को प्रत्यक्ष दिखा दूँगा।'

त्रस्त हुआ वैद्य विचारने लगा—यह आदमी, जिसे मैंने अति सामान्य समझा था, किसी धीरमति ज्ञानी की जैसी बातें सुना रहा है। साथ ही, यह व्यक्ति मेरा सब रहस्य भी जानता है। चाहे तो मुझे बहुत अधिक हानि भी पहुँचा सकता है और मैं अब इसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। इसलिये अब तो यही एकमात्र उपाय है कि मैं इसका अनुवर्त्ती होकर रहूँ। अभी-अभी इसने तपःसिद्धि की बात कही है, उसे भी देख लेना चाहिये। मन ही मन आलोचना करके वैद्य तरुणचन्द्र बिना एक शब्द बोले वहाँ से उठ आया।

अगले दिन राजा अमरदेव सायं-भ्रमण के लिये निकला तब अन्य मित्रों के अतिरिक्त वैद्य भी उसके साथ हो लिया। नदी किनारे टहलते-टहलते उन सबने देखा कि—प्रवाह में पाँच स्वर्णकमल बहते चले जा रहे हैं!

राजा अमरदेव ने अपने सेवकों के द्वारा वे स्वर्णकमल धारा से निकलवा लिये। फिर समीप खड़े वैद्य की ओर देखकर कहा—'वैद्यराज, आप किनारे-किनारे चले जाइये और इन स्वर्णकमलों के उत्पत्ति-स्थान का पता लगा कर आइये।'

राजा की आज्ञा से तरुणचन्द्र नदी के किनारे-किनारे आगे चल दिया राजा वहीं से अपने महल को लौट आया।

मीलों चलते-चलते अन्त में वैद्य तरुणचन्द्र को अपने सामने एक शिवमन्दिर दीख पड़ा, जिसके निकट ही एक बड़ा भारी बटवृक्ष खड़ा था। और पास आया तो वैद्य ने उसी बटवृक्ष पर एक पूरे नर-कंकाल को भी लटकता पाया।

पैदल चलते-चलते तरुणचन्द्र बहुत थक गया था। दिन भी डूबने लगा था। इसलिये वह नदी में स्नान करके वहीं मन्दिर में बैठ भगवान् की स्तुति-पूजा करने लगा।

उसकी पूजा समाप्त ही हुई थी कि आकाश में चारों ओर से मेघ घिर आये और फिर झर-झर करके पानी बरसने लगा।

उस समय वैद्य की आँखों ने एक अद्भुत दृश्य देखा। उसने देखा कि सामने वृक्ष की शाखा पर लटके नर-कंकाल पर बादलों से जो बूँद-बूँद

पानी गिर रहा है—पानी की वे बूँदें ही स्वर्णकमल बनकर नीचे गिर रही हैं और वे स्वर्णकमल नदी की ओर बहते चले जा रहे हैं।

कैसा आश्चर्य है! कोई यहाँ पास-पड़ोस में भी नहीं, जिससे मैं इस रहस्य को पूछूँ। और भला कोई बतलायेगा भी क्या? प्रभु की यह सम्पूर्ण सृष्टि ही परम आश्चर्यमयी है। यहाँ सभी कुछ सम्भव है।

स्वर्णकमलों की खान यही नर-कंकाल है, आँखों से प्रत्यक्ष ही देख लिया। अब इस नर-कंकाल को पुण्यसलिला नदी में बहाये दे रहा हूँ। या तो इस कंकाल से नदी में संख्यातीत स्वर्णकमल उत्पन्न हो जायेंगे, अन्यथा इस कंकाल की सद्गति तो हो ही जायेगी।

यही सब सोच कर वैद्य तरुणचन्द्र ने वृक्ष की शाखा से नर-कंकाल को उतारा और नदी की धारा में प्रवाहित कर दिया। रात उसने शिवमन्दिर में बिताई। दिन निकला तो घर की ओर चल दिया।

विलासपुर नगर तक पहुँचने में उसे काफ़ी समय लग गया। राजा अमरदेव के सम्मुख जब वह उपस्थित हुआ, तब थका-हारा और धूलि-धूसरित हो रहा था। उसी स्थिति में राजा को प्रणाम करके उसने जो कुछ देखा था—जो कुछ किया था, सब कह सुनाया।

तब राजा अमरदेव ने बहुत ही शान्त एवं स्निग्ध स्वर में धीरे-धीरे वैद्य तरुणचन्द्र से कहा—'मित्र, स्वर्णकमलों का उत्पत्ति-स्थान तुम अपनी आँखों से देख आये हो। वास्तव में वह एक पुण्यक्षेत्र है। अब तुम्हें यह जानकर अवश्य आश्चर्य होगा कि वह कंकाल मेरे ही पूर्वजन्म का शरीर था। अपने पूर्वजन्म में ऊर्ध्वपाद होकर लटकते हुये मैंने तपस्या की थी और अपने सूखे हुये कलेवर को यों ही लटकता छोड़ दिया था। तुमने देखा ही होगा कि उस कंकाल पर गिरीं मेघ की बूँदें कैसे स्वर्णकमल बन रही थीं। यह सब मेरी उसी तपस्या की महिमा है। तुमने कंकाल को पुण्यसलिला नदी में बहाकर उचित ही किया। तुम नहीं जानते, मेरे उसी पूर्वजन्म के मित्र हो तुम। ये दोनों भेषजचन्द्र और पद्मदर्शन, जिन्हें मैंने प्रधान अमात्य का पद दे रक्खा है, ये दोनों भी मेरे पूर्वजन्म के सखा हैं।

'बन्धु, अब तुम निश्चय ही समझ गये होगे कि अपने तप के प्रभाव से ही मुझे यह राज्य-प्राप्ति हुई है। गतजन्म की सारी बातों का मुझे स्मरण बना रहा है।

'इसीलिये मैंने तुमसे उस दिन कहा था कि—यह सोच कर अपने मन में कभी अहंकार मत करना कि तुमने अपने बुद्धिबल से मुझे राज-सिंहासन पर बिठा दिया है। मेरा तुमसे यह भी आग्रह है कि अपने मन में किसी प्रकार का दुख भी मत आने देना। प्राक्तन पुण्यकर्म को छोड़ कर, कोई भी किसी को कुछ देनेवाला नहीं होता। प्रत्येक प्राणी गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त अपने पूर्वकर्म-तरु के फलों को ही भोगता है।'

इस तरह, अपने पूर्वजन्म के शुभचिन्तक मित्र, राजा अमरदेव से बोधित होकर वैद्य तरुणचन्द्र के मन का सारा असन्तोष जाता रहा।

अपनी सामान्य स्थिति में ही रह कर वह शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करने लगा।

———

मानपरा की कथा

काञ्ची-नरेश राजा बाहुबल का एक द्वारपाल था, जिसका नाम था अर्थ-लोभी। अपनी चतुरता से इस द्वारपाल ने ढेर सारा धन एकत्रित कर लिया था। अद्‌भुत रूपशालिनी उसकी पत्नी थी। पत्नी का नाम मानपरा था।

अर्थलोभी क्योंकि जाति से बनिया था और बनिये का धर्म ही लोभ होता है, इसलिये जब उसने व्यापार का काम शुरू किया तो अपने किसी भी नौकर का क्रय-विक्रय के मामले में विश्वास न करके, वह ज़िम्मेदारी अपनी पत्नी को ही सौंप दी।

रूपवती मानपरा इस नीरस कार्य के लिये नितान्त ही इच्छुक न थी। फिर भी पति की आज्ञा से विवश होकर उसने यह बेतुका-सा बोझा अपने सिर ले लिया।

अपने मधुर रूप और मधुर वाणी से सबको आकर्षित कर लेने वाली मान-परा रत्न-आभूषण, हाथी, घोड़ा और रेशमी वस्त्र सरीखी वस्तुओं का क्रय-विक्रय बड़ी चतुरता से करने लगी.

तरुणी पत्नी के माध्यम से, व्यापार में आशातीत लाभ होता देख अर्थलोभी बहुत-बहुत प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होकर वह प्रतिदिन अपनी पत्नी को शाबाशी देने लगा।

इस तरह जब उस बनिये का व्यापार दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा था, उस नगरी में दूर देश से कोई उच्चस्तर का वणिक् आया। इस वणिक् का नाम सुखघन था। वह ऊँची नस्ल के घोड़ों का, बढ़िया रेशमी वस्त्रों का और सोने-चाँदी के मूल्यवान् नक्काशीदार बरतनों का व्यापार करता था।

अर्थलोभी को जब उस परदेशी वणिक् के आने का पता चला तो वह उत्साहित हो पत्नी मानपरा से यों कहने लगा—'सुनो मानपरा, यह जो नया व्यापारी आया है, उसके पास बीस हज़ार बढ़िया नस्ल के घोड़े और चीन देश

में बने असंख्य रेशमी थान बिक्री के लिये हैं। तुम एक बार जाकर उससे भेंट तो करो।

'सस्ते दामों पर अगर सौदा पट जाय तो तुम उससे फ़ौरन ही पाँच हज़ार घोड़े और दस हज़ार रेशमी थानों की ख़रीद कर लो।

इतना माल यदि तुम उस व्यापारी से ला सको तो फिर अपने पौ-बारह हैं। उसके पाँच हज़ार घोड़ों में अपने एक हज़ार घोड़े मिलाकर मैं राजा के हाथ बिक्री कर दूँगा। मुनाफ़ा ही मुनाफ़ा समझो!'

लोभी पति से यह सब सुनकर विषण्ण हुई मानपरा विवशभाव से उस परदेशी व्यापारी सुखधन के पास चली गई।

मानपरा ने नक़द द्रव्य लेकर उतने घोड़े और उतने रेशमी थान उसके हाथ बिक्री करने के लिये वणिक् के आगे माँग पेश की।

तरुणी मानपरा के अनोखे रूप-लावण्य की, नशीली आँखों की पहिली ही झलक पर विह्वल हुआ सुखधन थोड़ी देर तो उसे अपलक निहारता ही रह गया। फिर उसके स्वागत-सत्कार में डूबा रहा। फिर उसे एकान्त में ले जाकर यों कहने लगा—'नक़द द्रव्य लेकर मैं न तो तुम्हें एक थान दूँगा, न एक भी घोड़ा। परन्तु यदि तुम दया करके मेरे पास एक रात रह जाओ तो मैं तुम्हें सौ घोड़े और पाँच हज़ार रेशमी थान यों ही उपहार स्वरूप देने को प्रस्तुत हूँ। यदि तुम इतने से भी सन्तुष्ट न हो तो जितना कहो, मैं और अधिक भी दे सकूँगा। केवल मेरी यह छोटी-सी प्रार्थना स्वीकार कर लो तुम।'

जिन नारियों को परपुरुषों से मिलने-जुलने की, बात करने की पति की ओर से छूट मिली रहती है, किसी तरह की कोई रुकावट नहीं होती है, उन नारियों के प्रति हर आदमी का मन आकर्षित हो जाता है, हर आदमी उन्हें अपनी अंकशायिनी बनाने को इच्छुक हो उठता है।

वणिक् के प्रतिवेदन पर मानपरा तनिक देर चुप रही। फिर उसने सिर झुकाये-झुकाये ही उस परदेशी से होले से कहा—'मैं इस विषय में अपने पति से पूछ कर ही कुछ कह सकूँगी।' मन में कहा—'हो सकता है, वह लोभी इस बात के लिये भी तैयार हो जाय।'

घर लौट आकर मानपरा ने पति के आगे वणिक् की भावना ज्यों की त्यों सुना दी। पूरी बात सुन कर वह पापी अर्थपिशाच पति अपनी पत्नी के आगे निर्लज्ज भाव से हँसता हुआ कहने लगा—'सिर्फ़ एक रात के लिये यदि वह व्यापारी पाँच हज़ार रेशमी थान और सौ घोड़े देने को तैयार है, तो भला इसमें बुराई क्या है? ठीक तो है, तुम आज ही रात को उसके पास चली जाओ और कल सवेरे भोर में ही चुप-चाप अपने घर लौट आना।'

अपने कापुरुष पति की इन बातों को सुनकर मानपरा का कोमल पवित्र हृदय ग्लानि और विषाद में डूब गया। वह सोचती रही—थोड़े से लाभ के लिये अपनी विवाहिता पत्नी का भी विक्रय करने वाले ऐसे पापी और पौरुषहीन पति को धिक्कार है। लोभ से अन्धे हुये इस नीच आदमी को अपना भला-बुरा कुछ भी नहीं दीख रहा है। ठीक है, मैं अवश्य ही उस परदेशी के पास चली जाऊँगी, जो मेरे साथ केवल एक रात बिताने के लिये इतनी सरलता से पाँच हज़ार थान और सौ घोड़े देने को तैयार बैठा है, वह उदारचेता व्यक्ति ही वास्तव में मेरा पति बनने के योग्य है।

लम्बी साँस लेकर मानपरा ने मुख खोलकर पति से कहा—'तब ठीक है, मैं रात को उसके पास चली जाऊँगी। परन्तु बाद को तुम मुझे फिर किसी प्रकार का दोष मत देना। यह अच्छी तरह समझ लो।'...

रात आते ही, सचमुच ही मानपरा उस व्यापारी के पास चली आई। अँधेरे में डूबी, सुनसान रात में रूपवती मानपरा को अपने सामने यों प्रत्यक्ष खड़ा देख वणिक् सुखधन आनन्दातिरेक से पागल हो उठा। उसने अपने को धन्य माना। पति की आज्ञा पर मानपरा आई है। उसने सबसे पहिले यही किया कि—सौ घोड़े और पाँच हज़ार थान तत्काल मानपरा के पति के पास भिजवा दिये। अब वह बिलकुल निश्चिन्त था।

भय नहीं, चिन्ता नहीं, व्यवधान नहीं—चिरकाल से अर्जित अपनी सारी सम्पत्ति की मूर्त्तिमती फलश्री के समान, अनुपम रूप-लावण्य-यौवनमयी नारी मानपरा के साथ पूर्णकाम होकर सुखधन ने वह रात मानो आकाश में कहीं चन्दा-तारों के आस-पास बिताई।

दिन निकलते ही, निर्लज्ज अर्थलोभी के सेवक मानपरा को बुलाने आ पहुँचे।

मानपरा स्वयं ही उन सेवकों के आगे आ खड़ी हुई। उसने धीर-शान्तभाव स, बुलाने आये उन सेवकों से, कहा—'तुम्हारे मालिक ने मेरी बिक्री कर दी है। रात भर मैं दूसरे की होकर रही हूँ। अब मैं तुम्हारे मालिक की औरत कहाँ रही? वह स्वयं जैसा निर्लज्ज है, क्या मैं भी उसी तरह निर्लज्ज हो जाऊँ? तुम्हीं लोग बतलाओ, क्या यह अच्छा लगेगा कि मैं फिर लौटकर उसी अधम के पास जाऊँ? इसलिये कृपा करके तुम लोग यहाँ से चुपचाप चले जाओ। अब मैं उसी की पत्नी हूँ, जिसने मुझे ख़रीद लिया है। अब वही मेरा पति है।'

सेवकों ने मानपरा का वक्तव्य उसके पति को जा सुनाया और सिर झुका गये।

इस अप्रत्याशित समाचार से नराधम अर्थलोभी बहुत बौखलाया। वह सेवकों के आगे ही चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा—'मैं उस बदज़ात औरत को अभी बलपूर्वक हाथ पकड़ कर खींच लाऊँगा। देखता हूँ, वह हरामज़ादी कैसे नहीं आती है!'

अर्थलोभी को ऐसी विक्षिप्तावस्था में देख, उसका शुभचिंतक मित्र 'हरबल' उसे समझाने लगा—'भाई मेरे, अब तुम उस औरत को सुखधन के पास से हरगिज़ नहीं ला सकोगे। तुम इस बात को समझते क्यों नहीं कि उस वीर के आगे तुम्हारी एक न चलेगी? प्रेमी की उदारता पर मरने वाली नारी ने अब उसे इतना बलशाली बना दिया है कि उसके सामने तुम्हारा कोई वश न चलेगा। तुमने तो अपने हाथों ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली है! कृपणतावश जिस नारी को तुमने बेंच दिया, समझ लो कि उस नारी ने भी तुम्हें छोड़ दिया। इस अपमान से अब तुम इतने गर्हित हो चुके हो कि तुम्हारा पुंस्त्व भी समझा जाता रहा है। तुम न तो स्वयं ही वीर हो और न कोई बली मित्र ही तुम्हारे साथ है, जब कि तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी अनेक बलशाली मित्रों को साथ लाया है। तुम अपने शत्रु को कैसे पीट सकोगे? कोई उपाय है तुम्हारे पास? मान लो, राजा से तुम इस बात की शिकायत करो, तो निश्चय ही पत्नी को बेंचने का दुष्कृत्य करनेवाले पर राजा कोप ही करेगा। इसलिये भलाई इसी में है कि तुम चुप्पी साध जाओ। बेकार में अपनी मज़ाक बनवाने से भला क्या फ़ायदा है?'

मित्र की इन यथार्थ और सहानुभूति भरी बातों पर अर्थलोभी ने कोई ध्यान न दिया। वह झगड़ा करने के लिये कुछ लोगों को साथ लेकर सुखधन के डेरे पर जा धमका।

मित्रों तथा सैनिकों की सहायता से सुखधन ने अर्थलोभी के आदमियों को तत्काल मार-पीट कर भगा दिया।

असहाय बना अर्थलोभी तब भागा-भागा राजा के पास आया और उसने जल्दी-जल्दी कहा—'महाराज, एक परदेशी व्यापारी ने मेरी औरत छीन ली है। स्वामी, कृपा करके मेरी औरत मुझे दिलवा दीजिये।'

अपनी नीचता की बात को वह गोल ही कर गया।

राजा असली बात समझ न सके और नाराज़ होकर सुखधन को पकड़ कर लाने के लिये आज्ञा देने लगे, तो चतुर मन्त्री ने उन्हें रोका और निवेदन किया—'प्रभु, वह परदेशी व्यापारी कोई ऐरा-ग़ैरा नहीं है, जो आप यों ही उसे पकड़वा लेंगे। ग्यारह धनी एवं बलशाली मित्र उसके साथ आये हैं। उनके पास बढ़िया नस्ल के एक लाख से भी अधिक घोड़े हैं। अर्थलोभी की बात पर यों ही विश्वास मत कर लीजिये। मुझे लगता है, वास्तविकता कुछ और ही है। मेरी समझ से तो जो कुछ हुआ है, अकारण नहीं हुआ है। भगवान् जाने इसके पीछे क्या रहस्य है? इसलिये मेरी प्रार्थना है कि आप दूत भेजकर सुखधन से असली बात पूछवायें। हमें देखना चाहिये कि वह क्या कहता है।'

राजा ने मन्त्री के कथनानुसार सुखधन के पास अपना दूत भेज दिया। दूत वहाँ पहुँच कर सुखधन से बात कर ही रहा था कि तब तक मानपरा बाहर निकल आई। उसने स्वयं ही सारा सत्य वृत्तान्त दूत को कह सुनाया। दूत ने यहाँ लौट आकर वही वृत्तान्त राजा को सुना दिया।

आश्चर्य में डूबे राजा मानपरा के उस अनुपम रूप को, जिसके पीछे इतना बड़ा कांड हो गया था, अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखने के लिये सुखधन के डेरे पर स्वयं पधारे। अर्थलोभी को भी वे अपने साथ लेते आये।

श्रद्धा से नतमस्तक सुखधन से राजा कुछ पूछ ही रहे थे कि अचानक उनकी नज़र मानपरा की ओर चली गई। अपनी लावण्य-सम्पदा से ब्रह्मा को

भी अचरज में डालनेवाली उस नारी ने आगे बढ़कर महाराज को प्रणाम किया आशीर्वाद देकर महाराज ने उसी के मुख से सारी बात सुनने की इच्छा प्रकट की।

एक ओर खड़ा अर्थलोभी चुपचाप सुनता रहा और शान्तस्वर में मानपरा अपनी कहानी राजा को सुनाती रही :

राजा ने मानपरा के सम्पूर्ण कथन को सत्य माना। अर्थलोभी बिना एक शब्द बोले निरुत्तर ही खड़ा रहा।

अन्त में, राजा ने उस सुमुखी से स्वयं ही प्रश्न किया—'अब क्या होना चाहिये ? तुम्हारी क्या इच्छा है ?'

मानपरा ने निश्चिन्त भाव से निवेदन किया—'प्रभु, आप ही बतलाइये, जिस आदमी ने बिना किसी विपदा के, घोड़े के लिये और रेशमी थान के लिये, दूसरे व्यक्ति के हाथों मुझे बेंच दिया, ऐसे बल-वीर्यहीन, लोभी और पापी के पास मैं कैसे चली जाऊँ ?'

राजा ने स्नेहभरी वाणी से कहा—'बेटी, तुम ठीक ही कहती हो। मैं तुमसे पूर्ण सहमत हूँ।'

परन्तु अर्थलोभी, जो क्रोध और लज्जा से अकुला रहा था, अचानक ही बोल उठा—'महाराज, यह सुखधन और मैं—दोनों ही इस समय अकेले हैं। अब यह अपने सैनिकों को बुला ले और मैं अपने सैनिकों को बुलवा लूँ। फिर दोनों के बलाबल की परीक्षा हो जाय।'

अर्थलोभी की शर्त्त पर सुखधन ने कहा—'सैनिकों से क्या लेना-देना है ? हम दोनों आपस में ही युद्ध क्यों न कर लें ? जो जयी होगा, मानपरा उसी की हो जायेगी। महाराज, आपकी क्या आज्ञा है ?'

महाराज ने मुसकरा कर कहा—'तुम ठीक कहते हो, मेरी आज्ञा है, ऐसा ही हो।'

तब राजा और मानपरा की आँखों के सामने ही दोनों प्रतिद्वन्द्वी घोड़ों पर चढ़े हुये युद्ध-भूमि में उतर आये। युद्ध चलने लगा। सबके देखते-देखते, सुखधन के भाले की चोट से अर्थलोभी का घोड़ा उछला और वह घोड़े से ज़मीन

पर आ गिरा। घोड़ा मर गया। अर्थलोभी दूसरे घोड़े पर चढ़ा। सुखधन ने फिर प्रहार किया। अर्थलोभी फिर गिरा और दूसरा घोड़ा भी मर गया। तिबारा भी यही हुआ और चौथी बार भी यही हुआ। परन्तु अपने सामने ज़मीन पर पड़े अर्थलोभी पर धर्मशील सुखधन ने एक बार भी प्रहार न किया।

अन्त में, पाँचवीं बार घोड़ा ही अर्थलोभी के ऊपर गिर पड़ा। उसने अर्थलोभी को अपनी टापों से कुचल डाला। अर्थलोभी बेहोश हो गया। सेवक उसे उठा ले गये।

वहाँ खड़े दर्शकों ने और स्वयं राजा ने सुखधन को अनेक साधुवाद दिये। उसके प्रति अपना स्नेह और आदर प्रकट किया। दूसरे दिन महाराज ने सुखधन को राज-सभा में बुलाकर सम्मानित किया। सुखधन ने जो भेंट-पूजा महाराज को अर्पित की, वह भी उन्होंने आदरपूर्वक उसे लौटा दी। उन्होंने अर्थलोभी की सारी सम्पत्ति ज़ब्त कर लेने का आदेश दिया। अर्थलोभी के पद पर दूसरे आदमी की नियुक्ति कर दी गई।

इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से स्वस्थ अपनी प्रगाढ़ प्रेम-भावना के बल पर, अपनी उदारता, बल-पौरुष और सौम्यता के सहारे सुखधन ने अनुरागिणी मान-परा का हृदय जीतकर जीवन का शेष भाग अतिशय सुख-सन्तोष-शान्ति से व्यतीत किया।

वास्तविकता यही है कि—जो बलशाली नहीं है, जिसमें संयम नहीं है और जो त्याग करना नहीं जानता—ऐसे गये-गुज़रे व्यक्ति को पत्नी भी छोड़ देती है और लक्ष्मी भी।

धीरमति और बलशाली पुरुष को रमणी और सम्पदा—दोनों ही स्वयं वरण कर लेती हैं।

———

कार्पाटिक की कथा

किसी समय लक्षपुर नामक नगर में लक्षदत्त नामक कोई राजा राज्य करता था। त्यागियों में अग्रगण्य उस राजा का यह हाल था कि वह किसी भी याचक को एक लाख से कम स्वर्णमुद्रायें देता ही नहीं था। यदि कोई अधिक आग्रह करे तो पाँच लाख स्वर्णमुद्रायें देने में भी उसे संकोच न होता था। इस लिये उसका नाम लक्षदत्त पड़ गया था।

राजा लक्षदत्त के सिंहद्वार पर लब्धदत्त नामक किसी चिथड़ा लपेटनेवाले भिखारी ने अपना डेरा डाल रक्खा था। दिन बीतते गये, परन्तु जटा-जूटधारी वह भिखारी सरदी-गरमी और बरसात सहता उसी तरह सिंहद्वार पर पड़ा रहा। वह कभी अपनी जगह से हिला तक नहीं। राजा की उस पर दृष्टि न पड़ी हो, ऐसी बात न थी। परन्तु न जाने क्या कारण था कि कृपालु राजा ने उस दरिद्र को कभी एक कौड़ी भी न दी।

इसके बाद, कभी राजा वन में शिकार खेलने गये तो वह भिखारी भी अपन डण्डा उठा साथ हो लिया। राजा ने बाण-वर्षा करके वन में अनेक व्याघ्र, वराह और मृगों का शिकार किया। दूसरी ओर उस एकाकी भिखारी ने भी अपने उसी डण्डे से कई वराह और हिरन समाप्त कर दिये। राजा उसका ऐसा पराक्रम देख चौंके और मन ही मन सोचने लगे कि--'कितना शूर है यह आदमी!' परन्तु फिर भी दिया उसे कुछ नहीं। भिखारी फिर ज्यों का त्यों सिंहद्वार पर आ बैठा।

इसी तरह फिर एक बार राज्य की सीमा पर किसी शत्रु राजा से लक्षदत्त का युद्ध हुआ। उस युद्ध में भी भिखारी ने राजा की आँखों के सामने बहुत से शत्रु-सैनिकों को अपने मज़बूत खैर के डण्डे से मार गिराया। राजा फिर आश्चर्य में पड़े। युद्ध में विजय प्राप्त करके अपने नगर लौट भी आये। परंतु भिखारी का ऐसा अद्भुत पराक्रम देखकर भी उन्होंने उसे कुछ न दिया।

धीरे-धीरे भिखारी को सिंहद्वार पर रहते पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। अब

छठा वर्ष चलने लगा तो एक दिन दैवयोग से यों ही बैठे-बैठे राजा के मन में भिखारी लब्धदत्त के प्रति करुणा जाग उठी और उन्होंने हृदय में विचार किया—मैंने इस चिरदरिद्र लब्धदत्त को आज तक कानी कौड़ी न दी। अब एक बार इसे कुछ देकर देखा जाय कि इस बेचारे के पाप अभी समाप्त हुये हैं या नहीं ? अब भगवती लक्ष्मी इसे दर्शन देती हैं या नहीं ? ठीक है, आज इसकी थोड़ी परीक्षा की जाय।

राजा ने अपने कोषागार में जाकर एक बड़े-से बिजौरा नींबू को बीच से थोड़ा-सा चीरकर अमूल्य रत्न और मणि-माणिक्य भर दिये। ऊपर से उस फल को ऐसे जमा दिया मानो ढक्कन लगा दिया हो। फिर एक सभा बुलाई, जिसमें मन्त्रियों सहित पुरवासी भी आमन्त्रित थे। राजा ने जनता के बीच भिखारी लब्धदत्त को भी बैठा देखा। उन्होंने स्निग्ध वाणी से उसे अपने पास आने के लिये कहा। हर्षित होता हुआ लब्धदत्त विनयपूर्वक राजा के आगे आ बैठा तो राजा ने तनिक-सा मुसकरा कर उसे आदेश दिया—'कोई बढ़िया कविता सुनाओ !'

राजा की आज्ञा से लब्धदत्त ने सभा में यह 'आर्या' सुनाई—

'पूरयति पूर्णमेषा तरङ्गिणीसंहतिः समुद्रमिव।
लक्ष्मीरधनस्य पुनर्लोचनमार्गेऽपि नायाति ॥'

[यह लक्ष्मी भरे हुए को ही भरती है—धनाढ्य को ही धन देती है। जैसे समुद्र में ही सारी नदियाँ अपना जल गिराती हैं। जो निर्धन होता है—दरिद्र होता है, लक्ष्मी उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती।]

राजा इस आर्या को सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुए। बग़ल में रखा रत्नों से भरा वह बिजौरा नींबू भिखारी को दे दिया। सारे मन्त्री और पुरजन यह दृश्य देख चौंक उठे कि—यह राजा तो जिस पर प्रसन्न होता है, उसका जन्म-जन्म का दारिद्र्य समाप्त कर देता है। बेचारा भिखारी जिसे राजा ने इतने आदर से अपने पास बुलाया, उससे कविता सुनी और पुरस्कार क्या दिया—एक नींबू ! अभागे लोगों के लिये तो प्रायः कल्पवृक्ष भी पलाशवृक्ष बन जाता है।

भिखारी उस नींबू को लेकर चुपचाप सभा से निकल गया। मन ही मन

विषाद लिये जब वह आगे बढ़ा तो अचानक एक बौद्ध भिक्षु से उसकी भेंट हो गई। बौद्ध भिक्षु राजा से ही मिलने जा रहा था और ख़ाली हाथ था। भिखारी के पास उस सुन्दर फल को देख बौद्ध भिक्षु के मन में तत्काल एक विचार आया—उसने अपनी एक चादर देकर बदले में भिखारी से वह फल ले लिया। राजा के सम्मुख पहुँचा तो भेंट के रूप में वही फल अर्पित कर दिया। राजा थोड़ी देर उस फल की ओर देखते रहे। फिर श्रमण से पूछा कि—यह फल उसे कहाँ मिला! श्रमण ने भिखारी वाली बात बतला दी।

सुनकर राजा विस्मित हुए। वे सोचने लगे—इस अभागे के पाप सम्भवतः आज भी समाप्त नहीं हुए हैं। श्रमण द्वारा अर्पित फल उन्होंने ग्रहण कर लिया और वे सभा से उठकर चले गये।

उधर भिखारी ने श्रमण की वह चादर बाज़ार में बेंचकर कुछ खाद्य पदार्थ ख़रीद लिये। फिर वहीं पुरानी जगह पर जा बैठा।

दूसरे दिन राजा ने फिर सभा बुलाई। उसी तरह मन्त्री और पुरवासी इकट्ठे हुए। उसी तरह भिखारी को अपने पास बुलाया। उसी तरह उससे 'आर्या' सुनी और फिर वही पहले दिन वाला फल उसके हाथों में पकड़ा दिया। दर्शक फिर विस्मय से भर उठे—राजा यह क्या करते हैं? यह कैसी कृपा है कि भिखारी को सिर्फ़ एक फल दिया जाता है!

भिखारी ने उदास मन से वह फल स्वीकार कर लिया और सिर झुकाए बाहर निकल गया।

आज आगे बढ़ते ही किसी सामन्त से उसकी भट हुई, जो राजा से कुछ परामर्श करने सभास्थल की ओर जा रहा था। भिखारी के हाथ में वह फल देखकर उसे एक शुभ शकुन मानकर दो वस्त्रों के बदले सामन्त ने उसे ख़रीद लिया। सभा में पहुँचा। राजा के चरणों में सिर झुकाया और उपहार-स्वरूप वही फल सामने रख दिया।

राजा ने फल के विषय में जिज्ञासा की तो सामन्त ने भिखारी से फल-प्राप्ति वाली बात बदला दी।

राजा का मन फिर उदास हो गया। वे सोचने लगे—आहा! लक्ष्मी आज भी इस दरिद्र को दर्शन नहीं दे सकीं।

कल की तरह आज भी राजा उस फल को ले सभा-मण्डप से चले गये।

उधर भिखारी ने दोनों वस्त्रों में से एक तो बाज़ार में बेंचकर खाने-पीने की चीजें ख़रीद लीं और दूसरे वस्त्र के दो टुकड़े करके अपने पहिनने के कर लिये।

तीसरे दिन भी उसी तरह सब हुआ—भिखारी को बुलाया गया, आर्या सुनायी और फल दिया गया।

परन्तु आज सभा से बाहर आने पर भिखारी की भेंट राजनर्त्तकी से हुई। भिखारी के हाथ में ऐसा सुन्दर फल देख राजनर्त्तकी का मन ललचा आया। उसने थोड़ा-सा स्वर्ण देखकर ख़ुशी-ख़ुशी वह फल भिखारी से ले लिया। राज के आगे पहुँची तो वही सुन्दर फल चरणों के पास रख दिया।

राजा ने नर्त्तकी से भी फल-प्राप्ति की बात पूछी। राजनर्त्तकी ने बतलाया कि यह फल उसे एक भिखारी से मिला है

तब उदास राजा मन ही मन सोचने लगे—लक्ष्मी ने आज भी कृपा नहीं की। यह अभागा आदमी शायद नहीं जानता कि मेरी कृपा-दृष्टि कभी निष्फल नहीं जाती। परन्तु मैं क्या करूँ? फल में छिपे रत्न और मणि-माणिक्य हर बार लौटकर मेरे ही पास आ जाते हैं!

सोच में डूबे राजा फल उठाकर उस दिन भी सभा से चले गये।

राजा को जैसे ज़िद चढ़ गई थी। चौथे दिन भी उन्होंने फिर उसी तरह सभा बुलाई और सामन्त, सचिवों के समक्ष फिर भिखारी को राजा के पास उपस्थित किया गया। उससे फिर वही 'आर्या' सुनी गई, और दान के रूप में फिर वही बिजौरा नींबू भिखारी के आगे किया गया

राजा जब भिखारी के हाथों में उस दिन फल को देने लग तो जाने कैसे वह फल भिखारी के हाथों से नीचे गिर गया और बीच से फट गया। ढेरों रत्न और मणि-माणिक्य ज़मीन पर चारो ओर बिखर गये।

अब देखनेवालों की समझ में आया कि वास्तविकता क्या थी। ओह! तीन दिन लगातार हम लोग कैसे भ्रम में पड़े रहे। हमारे राजा की कृपा तो सदा ऐसी ही होती आई है।

तब राजा ने सारी जनता के बीच अपने श्रीमुख से कहा—'मैंने इस गुप्त दान के बहाने यह जानने की चेष्टा की थी कि लक्ष्मी देवी इस दरिद्र पर दयालु होती हैं या नहीं ? इस आदमी को मेरे द्वार पर पड़े पाँच साल बीते। भाग्य की सामर्थ्य देखिये कि—मेरे हृदय ने कभी यह आवाज़ न दी कि इसे कुछ द्रव्य दूँ। आप लोग देख ही रहे हैं—तीन दिन से लगातार मैं इसे बराबर यह फल देता रहा हूँ और यह फल लौट-लौट कर मेरे पास ही आता रहा है। वास्तविकता यह है कि जब तक आदमी के पापों का अन्त न हो जाय, प्रयत्न करने पर भी वह रिक्त-हस्त ही रहता है। इस भिखारी के सारे पापों का आज अन्त हो गया तो लक्ष्मी की कृपा भी इसे अनायास ही प्राप्त हो गयी है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है और आप सब भी अवश्य प्रसन्न हुए होंगे

इतना कहकर राजा ने लब्धदत्त को वे सारे रत्न तो दे ही दिये, इसके अतिरिक्त, उसे और भी हाथी, घोड़े, स्वर्ण और गाँव दान में दिये।

वह दर-दर का भिखारी एक छोटा-मोटा सामन्त बन बैठा।

हर बात का एक समय होता है और समय के पूर्व कोई कुछ नहीं पा सकता।

मूलदेव की कथा

अपने मित्र शशि को साथ लिये उज्जयिनी का वासी मूलदेव पाटलिपुत्र आया हुआ था। उसने पाटलिपुत्र की बड़ी प्रशंसा सुन रखी थी कि वहाँ के लोग बड़े बुद्धिशाली एवं चतुर हैं।

नगर में घुमने के पूर्व ही एक तालाब के किनारे उन्हें कोई धोबिन कपड़े धाती मिली। उन्होंने धोबिन से पूछा—'यहाँ राहगीरों को टिकने के लिये कोई ठौर है?'

धोबिन ने तनिक सोचकर कहा—'यहाँ तटों पर चक्रवाक रहते हैं, पानी में मछलियाँ रहती हैं और कमलों पर भौंरे। राहगीरों के निवास की कोई ठौर मैंने तो देखी नहीं।'

बुढ़िया के अनोखे प्रत्युत्तर से अवाक् वे दोनों चुपचाप सिर झुकाये नगर के भीतर चले गये। आगे बढ़े तो उन्होंने देखा कि एक घर के दरवाज़े पर कोई बालक अपने सामने गरम-गरम खीर का कटोरा रखे बैठा रो रहा है। शशि ने छूटते ही मूलदेव से कहा—'कैसा बेवकूफ़ बालक है! सामने रखी खीर तो खा नहीं रहा है और व्यर्थ ही रोये जा रहा है!'

लड़के ने उसकी बात सुनी तो फ़ौरन रोना बन्द कर दिया, आँसू पोंछ लिये और हँसता हुआ बोला—'बेवकूफ़ तो तुम लोग हो, जिन्हें यही नहीं मालूम कि मेरे इस रोने में कितनी विशेषताएँ हैं। पहली बात तो यह है कि—जितनी देर मैं रोता रहूँगा, धीरे-धीरे यह खीर शीतल होती जायेगी। शीतल खीर कैसी स्वादिष्ट लगती है, शायद तुम लोगों को पता नहीं। दूसरी बात यह है कि रोते रहने से मेरे भीतर की सारी श्लेष्मा निकल जायेगी और तबीयत हल्की हो जायेगी। लगता है, तुम लोग देहाती हो। इसीलिये निर्बुद्धि हो। किसी बात की तह तक नहीं पहुँच सकते।

बच्चे की इन चातुरी भरी बातों से लज्जित होकर वे दोनों सिर झुकाये आगे बढ़ गये।

इस बार उन्होंने क्या देखा कि आम के पेड़ पर एक सुन्दर-सलोनी षोडशी बाला चढ़ी बैठी है और डालियों से आम तोड़ रही है। इन लोगों ने पेड़ के नीचे आ याचना की—'दो-चार आम हमारे लिये भी नीचे गिरा दो।'

तब पेड़ पर बैठी वह बाला पूछने लगी—'कैसे आम तुम्हें चाहिये ? गरम आम खाओगे या ठण्डे आम खाओगे ? बोलो !'

इस अजीब से प्रश्न के उत्तर में मूलदेव ने सोच-साच कर कहा—'पहले गरम खायेंगे फिर ठण्डे।'

तब उस बाला ने कुछ फल तोड़कर टपाटप नीचे धूल में गिरा दिये। फूँक मार-मार कर आमों की धूल उड़ायी और ये दोनों उन्हें चूसने लगे।

पेड़ पर बैठी षोडशी बाला इस दृश्य से खिलखिला कर हँसने लगी। हँसते-हँसते ही उसने कहा—'गरम आम तो तुम लोगों ने फूँक-फूँक कर खा लिये। अब लो ठण्डे आम खाओ। इन्हें भी फूँक-फूँक मत खाने लगना। कपड़ा आगे करो, लो आम !' और उसने फैले हुए अँगोछे पर कुछ आम गिरा दिये।

ये दोनों लज्जित हो आम लिये चले आये और एक जगह रात को टिक रहे। मूलदेव के मन में उस बाला की बातें उमड़-घुमड़ रही थीं। जब रहा न गया तो उसने साथी से कहा—'उस लौंडिया के मज़ाक का बदला लेना चाहिये। कैसे भी होगा, मैं उसे अपनी बनाकर छोड़ूँगा।'

दूसरे दिन उन लोगों ने पूछ-ताछ करके उस बाला के घर का पता लगा लिया और वेश बदलकर उसके पिता यज्ञस्वामी के पास जा पहुँचे। यज्ञस्वामी के यह पूछने पर कि वे लोग कहाँ से आये हैं, इन दोनों ने बतलाया कि वे माया-पुरी से वेद-विद्या का अध्ययन करने यहाँ आये हैं। ब्राह्मण यज्ञस्वामी एक सम्पत्तिशाली व्यक्ति था। उसने प्रसन्नभाव से ही कहा—'मैं अवश्य तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। तुम लोग दूर देश से आये परदेशी ब्राह्मण-पुत्र हो। वर्षा के ये चार मास यहीं मेरे घर पर बिताओ। मैं तुम्हें इतने दिनों में ही वेद-विद्या में पारङ्गत करा दूँगा

मूलदेव ने विनम्रभाव से कहा—"भगवन्, आपकी आज्ञा हमें शिरोधार्य

है। परन्तु ये चार मास बीत जाने पर हमारा जो अभीष्ट हो, उसे भी देने की कृपा कीजियेगा।'

यज्ञस्वामी ने तत्काल कहा—'ठीक है, जो कुछ तुम मांगोगे, तुम्हें दिया जायेगा। चिन्ता मत करो।'

देखते-देखते वे चार मास व्यतीत हो गये। वेदाध्ययन भी प्रायः पूर्ण हो गया। तब एक दिन शशि ने यज्ञस्वामी से निवेदन किया—'भगवन्, अब हमें जाने की आज्ञा दीजिये और हमारा अभीष्ट भी हमें प्रदान करने की कृपा कीजिये।'

यज्ञस्वामी ने पूछा—'बोलो भाई, तुम्हें क्या चाहिये?'

शशि ने मूलदेव की ओर इशारा करके कहा—'यह मेरा मित्र चाहता है कि आपकी कन्या को अपनी जीवन-सहचरी बनाकर कृतकृत्य हो। इसलिये इसे कन्या देने का अनुग्रह कीजिये।'

इस अप्रत्याशित मांग को सुनकर यज्ञस्वामी एक बार तो बुरी तरह चौंका, परन्तु वह वचनबद्ध था, इसलिये निषेध न कर सका। उसने यह भी सोचा कि यह ब्राह्मण-युवा गुणी है। बुद्धिशाली है। स्वस्थ एवं सुन्दर भी है। इसे कन्या देने में कोई दोष भी नहीं दीखता और उसने शान्तभाव से अपनी स्वीकृति दे दी।

इस प्रकार मूलदेव ने अपना मनचीता कर लिया। उस बुद्धिशालिनी षोडशी बाला के साथ उसका विधिवत् विवाह हो गया। मधु-रात्रि मनाने की बेला आई तो वह अपनी नवपरिणीता वधू के सज्जित कक्ष में ओठों पर मुसकान लिये प्रविष्ट हुआ और पत्नी के पास पलंग पर जा बैठा। फिर हँसते-हँसते ही पूछा—'कहो तो, तुम्हें उन गरम और ठण्डे आमों की कुछ याद है?'

पति का प्रश्न सुनकर नवपरिणीता ने भी मुसकराते हुए उत्तर दिया—'जी हाँ, अच्छी तरह याद है, नागरिकों के द्वारा देहातियों की इसी तरह अकल ठिकाने की जाती है।'

इस पर मूलदेव ने भी क्षुब्ध होकर तत्काल उत्तर दिया—'आप ठीक कहती हैं श्रीमती जी, आप एक नागरिका हैं और मैं एक देहाती हूँ—मान गया मैं। अब

आप यह भी समझ लीजिये कि मैं आपको अधिक कष्ट नहीं दूँगा। एक देहाती का एक नागरिका के साथ रहना भला कौन पसन्द करेगा ? अब आप सुख से रहियेगा। मैं तो चला ही जाऊँगा।'

पति की चुनौती पर उस नवपरिणीता ने भी अपनी प्रतिज्ञा सुना दी—'जाना ही चाहें तो आप जा सकते हैं, परन्तु इतना याद रखियेगा—एक दिन ऐसा आयेगा कि मैं आपको अपने पास पकड़ मँगवाऊँगी और सो भी आपके ही पुत्र के द्वारा।'

मूलदेव ने शान्तभाव से कहा—'देखा जायेगा।'

मुग्धा पत्नी करवट बदल कर सो रही। रात्रि का पिछला प्रहर बीता तो मूलदेव चुपचाप उठ खड़ा हुआ। जाने से पूर्व, अपनी नामांकित अँगूठी अँगुली में पहिना दी। एक बार प्रसुप्त प्रिया के सौम्य मुख को आँखें भर कर देखा और बाहर हो गया। फिर दिन निकलने के पूर्व ही मित्र को साथ लेकर अपनी नगरी उज्जयिनी की ओर प्रस्थान कर गया।

ब्राह्मण की बेटी की सुबह जब आँख खुली तो पति को निकट न पाकर वह व्यथित हो उठी। बातों-बातों में ही इस प्रकार पति को खोकर वह बहुत देर तक अपने को कोसती रही। अचानक ही उसकी नज़र अपनी अँगुली में चमकती अँगूठी पर पड़ी। उस अँगूठी पर मूलदेव का नाम अंकित था। नाम पढ़कर—उसे याद आया कि यह सम्भवतः वही मूलदेव है, जिसके बारे में लोग कहते हैं कि वह उज्जयिनी में अपनी धूर्त्तता के लिये परम विख्यात है। तब उसने मन ही मन निश्चय किया कि जिस प्रकार वह मुझे छोड़कर चला गया है, मैं भी उसे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके दिखा दूँगी। इसके लिये भले ही मुझे स्वयं उज्जयिनी जाना पड़े।

उसने पिता से झूठी बातें कहीं। उसने यों कहा—'पिता, मुझे सोता छोड़ अचानक ही मेरे पति चले गये हैं। उनके बिना अब यह मेरा जीवन व्यर्थ है। सोचती हूँ, मन की शान्ति के लिये कुछ दिन तीर्थयात्रा कर आऊँ।'

पिता ने अनिच्छापूर्वक यथेष्ट धन और दास-दासियों के साथ पुत्री को तीर्थाटन के लिये आज्ञा दे दी।

अतिशय बुद्धिशालिनी उस तरुणी ने उज्जयिनी में एक गणिका के रूप में प्रवेश किया। अपना नाम सुमङ्गला रख लिया और दास-दासियों को उनके कर्त्तव्य समझा दिये। उन लोगों ने नगरी में घूम-घूम कर प्रचार कर दिया, 'कामरूप देश से अलोकसुन्दरी सुमङ्गला गणिका यहाँ आई हुई है। ऐरे-गैरे नत्थू-खैरों को तो उसके दर्शन ही दुर्लभ रहेंगे। हाँ, जो महान् त्यागी होंगे महिमाशाली होंगे, वे पुरुष-पुङ्गव ही उसके यहाँ प्रवेश पा सकेंगे!'

राज-प्रासाद सरीखे सुमङ्गला के निवास-स्थान पर मूलदेव का मित्र शशि उत्सुकतावश किसी दिन जा पहुँचा। उसने सुमङ्गला की दासी से कहा—'तुम्हारी मालकिन के रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर मैं यहाँ आया हूँ। यह द्रव्यराशि थामो और मुझे उनके पास ले चलो।'

दासी ने बड़े धीरभाव से कहा—'महाशय जी, यहाँ द्रव्यराशि से काम नहीं चलेगा। स्वर्णमुद्राओं का यहाँ कोई मूल्य नहीं है। यहाँ तो केवल वे ही प्रेमी लोग आ सकेंगे जो हमारे निश्चित किये गये नियमों का पालन करेंगे। पशु सरीखे कामुकों का यहाँ प्रवेश निषिद्ध है।'

उस दिन तो बेचारा शशि चुपचाप लौट आया, परन्तु अगली रात वह स्वर्णमुद्राओं के बिना ही एक गुणी प्रेमी के रूप में फिर सुमङ्गला के द्वार पर हाज़िर हो गया।

परन्तु पहली चौखट पर ही द्वारपाल ने उसे रोककर कहा—'मालकिन का आज्ञा है कि यदि कोई स्नान करके भी आये तो भी यहाँ उसे पुनः स्नान करना पड़ेगा। तभी भीतर प्रवेश कर सकेगा।'

शशि इसके लिये तत्काल तैयार हो गया। दासियों ने उसके कपड़े उतरवा कर उबटन और मालिश में घण्टों लगा दिये। तब कहीं जाकर वह नहा पाया। रात्रि का पहला प्रहर इसी में बीत गया।

नहा-धोकर जब दूसरी चौखट पर पहुँचा तो दूसरे द्वारपाल ने फ़ौरन ही कहा—'आप स्नान तो कर चुके हैं, अब यहाँ अपना प्रसाधन कीजिये।

प्रसाधन में फिर एक प्रहर बीत गया। अब वह तीसरी चौखट पर पहुँचा तो द्वारपाल ने कहा—'पहले भोजन कर लीजिये। तब आगे बढ़िये।

सुतरां वह भोजन करने बैठ गया। दासियां उसे तरह-तरह के खाद्य-पदार्थ परोसती गयीं और वह खाता गया।

इस प्रकार रात्रि का तीसरा प्रहर भी बीत गया। अन्त में जब वह चौथे दरवाज़े पर पहुँचा तब द्वारपाल ने उसे बुरी तरह फटकारा—'भाई मेरे, तुम आदमी हो या घनचक्कर ? दिन निकल रहा है, अब तुम सुभङ्गला रानी से भेंट करने चले हो ! ठेठ देहाती हो क्या ? तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि गणिका के पास किस समय जाना चाहिये ? हटो द्वार से ! चलते-फिरते नज़र आओ।'

बेचारा शशि बुरी तरह तिरस्कृत होकर जैसा गया था वैसा ही लौट आया।

शशि की तरह और भी न जाने कितने कामुक युवा सुमङ्गला के प्रति आकर्षित हो उस चौखट पर पहुँचे और अपना-सा मुँह लिये सिर झुकाये ही लौट आये।

सुमङ्गला की ये अनोखी चर्चाएँ सुनकर मूलदेव के मन में भी जिज्ञासा उठी कि—उस अनुपम सुन्दरी गणिका से एक बार भेंट करनी चाहिए। और फिर एक रात मूलदेव सज-धज कर वहाँ जा पहुँचा। उसने क्रमशः सभी द्वारपालों को तरह-तरह के उपहार देकर अपनी वचन-चातुरी से ऐसा प्रभावित कर लिया कि हर ड्योढ़ी पर वे लोग उसके लिये रास्ता छोड़ते गये और बढ़ते-बढ़ते वह अन्तिम कक्ष में सुमङ्गला के सम्मुख जा खड़ा हुआ।

इतना चतुर होते हुये भी मूलदेव बिलकुल नहीं पहिचान सका कि यह सुमङ्गला और कोई नहीं, उसकी वही परिणीता पत्नी है। परन्तु वेश्या के वेश में अपार सौन्दर्य लिये सामने खड़ी मुसकराती सुमङ्गला ने अपने पति को तत्काल ही पहिचान लिया। उसने अंजलि बाँध, शीश झुका कर मूलदेव को प्रणाम किया। सुसज्जित कोमल शैय्या पर उसे ला बिठाया। फिर उसके आदर-सत्कार में मानो डूब गयी।

एक रात, दो रात, तीन रात—मूलदेव तो जैसे अपनी सारी सुध-बुध ही भूल गया। सुमङ्गला के मोहपाश में आबद्ध होकर, अनायास ही 'प्यार का क़ैदी' होकर रह गया और एक दिव्य आनन्द की लहरों में जीवन-तरी बहती चली गयी।

सुमङ्गला का भी यह हाल हो गया था कि वह हर समय लता की तरह अपने प्रियतम से लिपटी रहती। अपना तन-मन और प्राण अपने पति पर न्यौछावर करती रहती।

दिन बीतते गये और बीतते गये। सुमङ्गला गर्भवती हो गयी।

अबाध गति से बहते इन्हीं दिनों में सुमङ्गला ने एक दिन मूलदेव के आगे एक पत्र ला रखा और हौले से बोली—'इसे पढ़ लो। मेरे देश के राजा ने यह पत्र मेरे नाम भेजा है।'

पत्र में कामरूप के राजा श्री मानसिंह ने सुमङ्गला को आदेश दिया था कि वह तत्काल चली आवे। वस्तुतः यह पत्र बनावटी था। सुमङ्गला की एक चाल थी यह। मूलदेव ने वह पत्र पढ़ा। पढ़कर बिना एक शब्द बोले सुमङ्गला को लौटा दिया।

तब सुमङ्गला मानो व्यथा में डूबकर कहने लगी—क्या करूँ? राजा की आज्ञा कैसे टालूँ? मुझे जाना ही पड़ेगा। देखो, मेरे पीछे दुखी मत होना। तुमसे हाथ जोड़कर क्षमा माँग रही हूँ।'

सुमङ्गला पाटलिपुत्र चली गयी।

मूलदेव के दिन उदासी में बीतने लगे। फिर धीरे-धीरे वह सुमङ्गला को भूलने लगा।

समय पूरा होने पर वहा पाटलिपुत्र में सुमङ्गला ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसे प्यार से पाला-पोसा। तनिक सयाना हुआ तो उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया और साथ ही सारी कलाओं में उसे पारंगत कर दिया।

बालक बारह साल का हो गया था। खेल-खेल में उसने किसी दिन अपने साथी एक दासीपुत्र को पीट दिया। तब वह दासीपुत्र रोता-रोता सब लड़कों के सामने ही कहने लगा—'इसने क्या समझ कर मुझे मारा है? इसके तो बाप का ही पता नहीं है। मेरे तो बाप हैं। तुम सबके भी बाप हैं। यह किस बाप का बेटा है, पूछो ज़रा इससे! इसकी माँ अकेली तीर्थयात्रा करने गयी थी। लौट कर आई तो यह पैदा हुआ। सब कोई जानते हैं।'

दासीपुत्र की इन बातों पर पास खड़े सारे लड़के हँसने लगे। वह बालक

हुत लजाया और सीधा अपनी माँ के पास दौड़ा आया और अकुला कर पूछने लगा—'माँ, मैं किसका बेटा हूँ? कौन हैं मेरे पिता और वे कहाँ रहते हैं? बताओ मुझे!'

क्षण भर अवाक् रह कर माँ अपने बेटे का कोमल मुख देखती रही। फिर उसने मोह में डूब कर कहा—'बेटा, तुम्हारे पिता का नाम मूलदेव है। और वे मुझे छोड़कर उज्जयिनी चले गये थे।'

बालक उत्कण्ठा से पूछने लगा—'मेरे पिता उज्जयिनी क्या चले गये माँ? अब लौट कर हम लोगों के पास क्यों नहीं आते?'

माँ ने तब बेटे को 'अथ' से लेकर 'इति' तक पूरी घटना सुना दी—जैसे-जैसे जो कुछ हुआ था।

घटना सुन बारह साल का वह बालक सीना तान कर बोला—'ठीक है माँ! अब तुमने मुझे सब बतला ही दिया है तो मैं उज्जयिनी जाऊँगा और जैसे भी होगा, अपने पिता को बाँधकर तुम्हारे आगे ले आऊँगा। तुम निश्चिन्त रहो माँ, मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी करवाऊँगा।'

माँ के रोकते-रोकते वह बालक सचमुच ही उज्जयिनी चला गया। उज्जयिनी में पहुँच कर उसने अपने पिता मूलदेव का पता भी लगा लिया कि वे कहाँ रहते हैं। फिर पिता को खोजता-खोजता उस जुआ-घर में जा पहुँचा, जहाँ मूलदेव पाँसों से खेल रहा था। माँ के बताये चिन्हों से उसने पहिचान लिया कि, यही मेरे पिता हैं।

वह बालक स्वयं भी जुये में शरीक हो गया। खटाखट पाँसे फेंकने लगा और द्यूत-क्रीडा में पारंगत उस बालक ने देखते-देखते सारे जुआड़ियों को हरा दिया और जीता हुआ सारा धन बटोर कर चल दिया। सारे जुआड़ी और स्वयं उसका पिता एक दूसरे का मुँह देखते रह गये। फिर एक दूसरे से कहने लगे—'बाप रे बाप, ज़रा-सा छोकरा और कमाल देखो इसका! कितना बड़ा धर्त है! यह तो मानो हम लोगों के मुँह पर कालिख़ ही पोत गया!'

बाहर आकर लड़के ने वह सारी जीत की कमाई-भिखारियों में बाँट दी।

उसी रात फिर मूलदेव के साथ एक अजीब घटना घटी। जब अपने घर

में अपनी खाट पर वह गाढ़ी नींद सो रहा था, तब जाने कौन भूत-प्रेत आया और मूलदेव को खाट से उठा कर कोने में पड़े रुई के ढेर पर लिटा गया।

सवेरे आँख खुली तो अपनी खाट को गायब देख मूलदेव लज्जा से, आश्चर्य और हँसी से भर उठा कि अच्छा तमाशा है भाई, कौन माई का लाल आया था यहाँ, जो मुझे यों मूर्ख बना कर चला गया!

शाम को वह घूमता-घामता जब बाज़ार में पहुँचा तो क्या देखता है कि—वही धूर्त बालक एक किनारे खड़ा उसकी खाट बेच रहा है। चकित हुआ मूलदेव उसके पास जा पूछने लगा—'क्या दाम लोगे इस खाट का?'

लड़के ने बड़ी शान से कहा—'महाशय जी, यह खाट दाम देकर नहीं ख़रीदी जा सकती। यह खाट तो मैं केवल उस आदमी को दूँगा जो मुझे ऐसी कहानी सुनाये जो सत्य भी हो, नितान्त अश्रुतपूर्व भी हो एवं अद्भुत भी हो। सुनाइये कोई ऐसी अद्भुत कहानी और ले जाइये यह खाट।'

मूलदेव ने उस धूर्त लड़के से कहा—'कहानी तो मैं तुम्हें सुना रहा हूँ। परन्तु यह अच्छी तरह जान लो कि यदि तुमने जानबूझ कर मेरी कहानी को असत्य घोषित किया तो मैं तुम्हें वर्णसंकर समझूँगा और खाट भी तुमसे छीन लूँगा।'

लड़के ने हँस कर कहा—'पहले आप कहानी तो सुनाइये!'

मूलदेव ने कहानी सुनायी—'किसी राज्य में दुर्भिक्ष पड़ गया। तब वहाँ के राजा ने अपने 'वाहन नागों' (हाथियों) के द्वारा जल बिन्दुओं से सिंचन करा कर 'सूकरप्रेयसी' (सूकरी) की पीठ पर खेती करवायी। उसमें बहुत ही बढ़िया फ़सल पैदा हुई। दुर्भिक्ष समाप्त हो गया। प्रजा आनन्दित हुई और फिर प्रजा ने राजा की घर-घर में पूजा की।'

कहानी सुनाकर मूलदेव ने पूछा—'बोलो, यह कहानी अद्भुत और सत्य है कि नहीं?'

लड़के ने हँस कर उत्तर दिया—'मैं मान गया कहानी आपकी सत्य है, परन्तु श्रीमान् जी, इसमें अद्भुत भला क्या है? आपने जिन 'वाहन नागों' से खेती की सिंचाई बतलाई है—वे वस्तुतः मेघ ही हैं। नाग का अर्थ मेघ होता

है न ? और आपने जिस 'सूकरप्रेयसी' की पीठ पर खेती होने की बात कही है वह वस्तुतः यही पृथ्वी माता है न ? भगवान् विष्णु ने वाराह अवतार लेकर अपनी प्रेयसी पृथ्वी को अपनी दंष्ट्रा पर धारण कर लिया था, आप जानते ही होंगे। बोलिये, मैं ठीक कह रहा हूँ न ? कहानी आपकी यह बिलकुल अद्भुत नहीं निकली। इसलिये यह खाट मैं आपको नहीं दूँगा '

'अब आपको मैं एक कहानी सुनाता हूँ, जो सत्य भी है और अद्भुत भी। लेकिन मेरी एक शर्त है--मेरी कहानी को अगर आपने ठीक माना तब तो यह खाट मैं आपको दे दूँगा और अगर आपने उसे असत्य कहा और मैं उसे सत्य सिद्ध कर दूँ तो आप हमेशा के लिये मेरे दास बन जायेंगे। बोलिये, मेरी यह शर्त स्वीकार है ?'

बिना सोचे-समझे ही मूलदेव ने आवेश में लड़के की शर्त स्वीकार कर ली। लड़का कहानी सुनाने लगा---'सुनिये भगवन्, किसी समय इस धरातल पर एक बालक पैदा हुआ था। जिसने पैदा होते ही अपने पैरों से इस धरती को कँपा दिया। उसके बाद तत्काल ही वह वृद्धता को भी प्राप्त हो गया और फिर उसने अपना एक पैर इस लोक में जमा कर दूसरा पैर दूसरे लोक में रख दिया। ऐसा अद्भुत था वह बालक।'

मूलदेव ने छूटते ही कहा---'झूठ, बिलकुल झूठ, यह कहानी मिथ्या है ! ऐसा बालक इस धरातल पर कभी पैदा नहीं हुआ होगा।'

लड़का हँसने लगा। हँसते-हँसते ही उसने मूलदेव से प्रश्न किया---'श्रीमान् जी, क्या भगवान् विष्णु के वामनावतार धारण कर लेने पर यह वसुधा उनके श्रीचरणों से नहीं काँपी थी ? और क्या वृद्धि को प्राप्त करके भगवान् ने एक चरण यहाँ रख कर दूसरे चरण से स्वर्गलोक नहीं नाप दिया था ? अब बोलिये, मेरी कहानी सत्य है या मिथ्या .

मूलदेव इस तात्पर्यार्थ को सुनकर सन्न रह गया। उसके मुख से एक शब्द भी न निकला। निश्चय ही वह शर्त हार गया था।

लड़के ने फ़ौरन ही मूलदेव की बाँह पकड़ ली और आस-पास खड़े लोगों की ओर संकेत करके कहा---'ये सब सज्जन साक्षी हैं कि तुम शर्त हार गये हो।

अतएव अब तुम मेरे दास हो। चलो मेरे साथ। जहाँ मैं जाऊँ, मेरे पीछे-पीछे चले आओ चुपचाप।'

वह बालक शर्त से बँधे मूलदेव को अपने साथ ले चला। उन्होंने लम्बी यात्रा की। फिर मूलदेव को साथ लिये वह बालक पाटलिपुत्र में अपनी माता के आगे आ खड़ा हुआ।

उसकी माता ने मूलदेव को देखते ही नीचे झुक कर पति के चरणों से अपना सिर लगा दिया। फिर आँसूभरी आँखों से पति की ओर निहारती उस नारी ने कम्पित स्वर में कहा—'आर्यपुत्र, आज मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गई है। जो तुम्हें यहाँ इस तरह पकड़ कर ले आया है, यह तुम्हारा ही पुत्र है। इसे आशीर्वाद दो स्वामी!'...

भली-बुरी इस दुनिया में भले-बुरे लोग रहते हैं। परन्तु जो कुलीन होते हैं, उनकी बात ही निराली होती है।

जीवन में हर्ष-विषाद तो आते ही रहते हैं। परन्तु जिनमें आत्म-विश्वास होता है, आस्था होती है, धृतिशीलता होती है—वे ही दृढ़ता से आपदाओं का सामना कर पाते हैं। ऐसे व्यक्ति निश्चय ही धन्य हैं।

मौनव्रती की कथा

गंगा के किनारे कोई माकान्दका नाम की नगरी थी। उस नगरी में मौन-व्रतधारी एक परिव्राजक आकर रहने लगा था। अपने कई संन्यासी बन्धुओं के साथ किसी मन्दिर की एक कोठरी में उसने अपना ठिकाना कर रखा था और प्रतिदिन भिक्षाटन करके जीवननिर्वाह कर लेता था।

एक दिन भिक्षा के लिये नगरी में घूमता-घामता वह मौनव्रती दैवात् किसी वणिक् के दरवाज़े पर जा पहुँचा। साँकल खटखटाने पर सहसा मौनव्रती के आगे वणिक् की पुत्री भिक्षान्न लिये आ खड़ी हुई। अद्भुत रूपशालिनी उस कन्या को देखकर वह मौनी साधु काम के वशीभूत हो उठा और रोकते-रोकते उसके मुँह से निकल गया—'हाय भगवान्, यह कैसी विपदा आई!'

भिक्षा लेकर मौनी तो अपने घर चला गया, परन्तु वह गृहस्वामी वणिक् मौनी को बोलता देख आश्चर्य में डूब गया। उससे और अधिक संवरण नहीं हुआ तो थोड़ी देर बाद ही वह भागा-भागा मठ तक आया और जल्दी-जल्दी संन्यासी से पूछने लगा—'भगवन्, आज ऐसी क्या बात हो गई, जो आप अपना इतनी सालों से चलने वाला मौनव्रत मेरे दरवाज़े पर यों तोड़ दिया?'

संन्यासी ने उदासभाव से यह उत्तर दिया—'तुम्हारी कन्या को आज मैंने पहली बार देखा है। इस कन्या का जिस दिन विवाह होगा, ठीक उसी दिन तुम्हारी अन्य सन्तानें, तुम्हारी पत्नी और स्वयं तुम—सबका प्राणान्त हो जायेगा। तुम्हारे इस भावी नाश की कल्पना करके मेरा दयालु मन कातर हो उठा और उसी अवस्था में तुम्हारे लिये मेरा मौनव्रत टूट गया, क्योंकि तुम मेरे भक्त हो और मुझे तुम पर सदा स्नेह रहा है।'

वणिक् ने जब यह भविष्यवाणी सुनी तो उसके होश उड़ गये। काँपते कण्ठ से उसने संन्यासी के पैर पकड़ कर कहा—'स्वामी, इस विपत्ति से पार पाने का भी कोई उपाय मुझे सुझाइये। मैं आपकी शरण में हूँ, मेरी और मेरे परिवार की रक्षा करो प्रभु!'

तब संन्यासी गम्भीरभाव से बोला—'ऐसा करो कि तुम इस लड़की को हाथ-पैर और मुँह बाँध कर किसी बड़ी मञ्जूषा में बन्द करके गंगा में प्रवाहित कर दो। और सुनो, मञ्जूषा के ऊपर एक दीपक जला कर अवश्य रख देना। बस, जाओ भगवान् तुम्हारा भला करें।'

घर लौट आकर रात को वणिक् ने ठीक वही किया जैसा संन्यासी ने बतला दिया था। नीतिशास्त्र कहता है—'भीरु हृदय वाले मनुष्य कभी विमर्शशाली नहीं होते।'

उधर संन्यासी ने क्या किया कि अपने कुछ सहचरों को सहेजा—'तुम लोग तत्काल गंगा के किनारे पहुँचो और वहाँ अगर पानी में कोई बड़ी-सी मञ्जूषा बहती हुई देखो तो उसे फ़ौरन निकाल लाओ। ध्यान रखना, मञ्जूषा के ऊपर दीपक जल रहा होगा।'

संन्यासी के वे साथी गंगा के किनारे पहुँच भी न पाये थे कि एक अप्रत्याशित घटना हो गई।

कोई राजकुमार गंगा के किनारे पर्यटन कर रहा था। उसने जब जलते दीपक सहित एक मञ्जूषा पानी में बहती देखी तो तत्काल अपने सहचरों की सहायता से वह मञ्जूषा जल से निकलवा ली। खोल कर देखता है तो उसमें एक रूप-लावण्यशालिनी कन्या बँधी पड़ी थी। राजकुमार इस दृश्य से चकित रह गया। थोड़ी ही देर उसने विचार किया होगा। हृदय ने गवाही दी तो उसने दैवयोग से पाई उस रूपवती कन्या के साथ वहीं गान्धर्व विवाह कर लिया। फिर अपने महलों की ओर उसे ले चला। जाते-जाते अपने सेवकों को आदेश देता गया कि इस मञ्जूषा में किसी मोटे-ताजे बन्दर को रख कर इसी तरह से जलते दीपक के साथ गंगा में प्रवाहित कर दो। नौकरों ने तत्काल उस आदेश का पालन किया और वे भी गंगा तट से चले गये।

संन्यासी के साथियों ने दीपक के चिन्ह से मञ्जूषा को पहिचान लिया। मिल-जुल कर उसे प्रवाह से निकाला। सिर पर लादा और मौनी बाबा के आगे ला रखा। मौनी उस मञ्जूषा को मठ की दूसरी मंज़िल पर बनी कोठरी में ले गया। एकान्त किया। कोठरी की किवाड़ें बन्द कीं। उत्फुल्लभाव से मञ्जूषा को

खोला। सहसा अनभ्र वज्रपात हुआ। एक मोटा-सा बन्दर उछल कर फ़ौरन बाहर आ गया और पलक मारते परिव्राजक के ऊपर चढ़ बैठा और तेज़ नखों से उसने संन्यासी के नाक और कान नोंच कर लहूलुहान कर डाले। मानो संन्यासी की पापमयी भावना का उचित फल कपिराज ने हाथों-हाथ उसे दे दिया।

सबेरे, दिन के आलोक में साथी संन्यासियों ने अपना मौनव्रत तोड़ने वाले और रूपवती युवती के लिये कामुक होने वाले उस परिव्राजक के नाक-कान नुचे-खसोटे देखे तो वे सभी एक साथ अट्टहास कर उठे।

सौभाग्य देखिये कि वह वणिक्पुत्री, जिसे पिता ने निरपराध गंगा में प्रवाहित कर दिया था, ऐसे सुयोग्य सत्पति को अनायास ही पा गई।

ढोंगी संन्यासी का जो हाल हुआ वह भी अपने में एक चमत्कार ही था।

वासना में डूबा आदमी कैसी-कैसी मूर्खतायें कर बैठता है!

———

उपकोशा की कथा

शास्त्रार्थ में पाणिनि से हार कर खिन्नमना वररुचि तपश्चरण के लिये हिमालय की तरफ़ चला गया। जाते-जाते अपनी पत्नी उपकोशा से कह गया--'वणिक् हिरण्यगुप्त के पास मैंने यथेष्ट धनराशि धरोहर के रूप में रख दी है। किसी प्रकार की कोई आवश्यकता पड़े तो तुम हिरण्यगुप्त से अपेक्षित धन ले लेना।'

दिन रात पति के श्रेय की कामना करने वाली उपकोशा एकाकिनी हो अपने घर मे रहती रही और प्रति-दिन नियमपूर्वक गंगा-स्नान को जाती रही।

बसन्त ऋतु आ गई थी और सदा की तरह उपकोशा गंगा-स्नान हेतु अकेली-अकेली तट की ओर चली जा रही थी। पति के विरह में पीली पड़ी और दुर्बल हुई वह रूपवती नारी ऐसी लग रही थी कि मानो द्वितीया को चन्द्रलेखा हो।

अचानक अपनी राह में एक किनारे से उसने राजपुरोहित को आँखें फाड़े खड़ा देखा। आगे बढ़ी तो उसी तरह दण्डाधिपति अपलक ताकता खड़ा मिला। और आगे बढ़ी तो निर्निमेष अपनी ओर निहारते कुमार सचिव से भी उसकी भेंट हुई। वस्तुतः ये तीनों ही व्यक्ति उपकोशा के रूप-यौवन को देख कर कामविह्वल हो गये थे। दैवात् उस दिन स्नान करते उपकोशा को देर लग गई। उधर से लौटी तो दिन डूबने लगा था। आधे-अँधेरे में पहले से तैयार खड़े कुमार सचिव ने बीच राह में उसे रोक लिया और अपने मन की अभिलाषा उसके सामने प्रकट कर दी। बुद्धिशालिनी उपकोशा ने तब बड़े विनम्रभाव से उससे यों कहा—'भद्र, जो तुम्हारे मन में है, मेरे मन में भी वही है। किन्तु क्या करूँ, तुम जानते हो, मैं कुलीन नारी हूँ। समाज का प्रश्न है। पति मेरा परदेश गया हुआ है। तो मैं खुले-आम कैसे क्या कर सकती हूँ? किसी ने यदि हम लोगों को इस तरह एकान्त में देख लिया तो मेरी और तुम्हारी दोनों की ही निश्चय ही दुर्दशा हो जायेगी। इस अपकीर्ति को भला कैसे सह पाओगे?

इसलिये ऐसा करो--तुम्हें पता है, चार ही दिन बाद वसन्तोत्सव होने वाला है। सारी जनता उस दिन मेले में पहुँची रहेगी। मार्ग भी जनविरल रहेंगे। बस, अँधेरा हो जाने पर रात्रि के पहले प्रहर में तुम मेरे घर चले आना। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में रहूँगी और तब हम लोग अपनी मनोकामना पूर्ण कर लेंगे। अब मैं जाऊँ न ? भूलना मत, उत्सव के दिन, रात का पहला प्रहर।'

इस प्रकार कुमार सचिव को सन्तुष्ट करके दस-पाँच क़दम आगे बढ़ी होगी कि दण्डाधिपति ने उसकी राह रोक ली। उपकोशा ने बड़ी शान्ति से दण्डाधिपति को भी उसी प्रकार अपने एकान्तमिलन का आश्वासन देते हुये उसी नियत तिथि पर रात्रि के दूसरे प्रहर में अपने घर आने के लिये कह दिया।

उसके बाद आगे बढ़ी तो राजपुरोहित प्रतीक्षा करता मिला। उपकोशा ने उसे भी निराश नहीं किया। उसे भी नियत रात के तीसरे प्रहर में आने के लिये आमन्त्रण दे दिया। रूप-लोभी अपने तीनों प्रेमियों को सन्तोष देकर उपकोशा धीर-मन्थर गति से अपने घर लौट आई।

रात पड़ गई। चारो ओर सन्नाटा छा गया। तब उपकोशा ने अपनी विश्वसनीय तीनों दासियों को पास बैठा कर सारी घटना कह सुनाई। अन्त में दुखी मन से उसने मानो स्वगत ही कहा--'जिसका पति परदेश गया हो ऐसी रूपवती युवती नारी दुनिया के लम्पटों की आँखों का तमाशा बनती रहे, इससे तो अच्छा है कि भगवान् उसे मौत दे दे।'

स्नेहशील तीनों दासियाँ भी आज की घटना से दुखित हो उठीं। उपकोशा ने वह पूरी रात चिन्ता और सोच में निराहार ही बिताई।

सूर्योदय होने पर उसने अपनी एक दासी को हिरण्यगुप्त वणिक् के पास थोड़ी-सी धनराशि लाने के लिये भेजा। परन्तु हिरण्यगुप्त उस दासी के साथ स्वयं यहाँ आ धमका और एकान्त में उपकोशा से कहने लगा--'तुम्हारे पति द्वारा जमा किये धन का कुछ भी अंश मैं तब तक नहीं दूँगा, जब तक तुम मेरी अंकशायिनी न बनो।'

उपकोशा यह सुनकर स्तब्ध रह गई। वणिक् के मन का पाप जान कर खेद और क्रोध से उपकोशा का हृदय भर उठा। फिर बहुत सोच-समझकर उसने वणिक् को भी उसी उत्सव वाली रात के अन्तिम प्रहर में वहाँ आने के लिये कह दिया।...

दासियों के साथ उपकोशा ने एक योजना बनाई। एक बड़े से कूँड़े में तेल में काला काजल मिलाया और उसमें सुगन्धि भी डाल दी। चार कपड़ों के टुकड़े उस तेल में डुबा फिर निचोड़ कर रख दिये। एक बहुत बड़ी मञ्जूषा साफ़ करके रक्खी, जिसमें मोटी-मोटी लोहे की जंजीरें लगी हुई थीं।

देखते-देखते वसन्तोत्सव का दिन आ गया। सारे नागरिक उत्सव मनाने मेले में चले गये। तब अपने नियत समय पर रात के पहले प्रहर में कुमार सचिव उपकोशा के द्वार पर आ खड़ा हुआ। उपकोशा ने मुसकरा कर उसका स्वागत किया और प्यारभरी वाणी से कहा—'सुनिये, बिना स्नान किये मैं आपका स्पर्श कैसे कर सकूँगी? इसलिये आप कृपा करके भीतर चलिये और जल्दी से नहा लीजिये।'

दासियाँ कुमारसचिव को घर के भीतर एक अँधेरे कक्ष में ले गईं। दासियों ने उसके सारे कपड़े और आभूषण उतरवा दिये और काले तेल में डुबोया कपड़े का एक टुकड़ा उसे पहिनने को दे दिया। फिर उसे वे चारो ओर से घेर कर बैठ गईं। और यही काजल मिला तेल सिर से लेकर पैर तक, मालिश के बहाने, पूरे शरीर पर मलने लगीं। लगातार मालिश का यह क्रम चल ही रहा था कि दण्डाधिपति आ पहुँचा। दासियों ने घबराये हुये स्वर में उसी अँधेरे कक्ष में बैठे कुमारसचिव के कानों में फुसफुसा कर कहा—'हाय राम, मालिक के मित्र दण्डाधिपति आये हैं! उन्हें तुम्हारा पता लग गया तो क्या होगा? जल्दी से इस मञ्जूषा में छिप जाओ। उठो-उठो!'

कुमारसचिव भी इस समाचार से घबरा गया था। बिना विलम्ब किये वह मञ्जूषा में घुस बैठा। दासियों ने फ़ौरन मञ्जूषा की जंजीरें कस दीं। सारे शरीर पर काला तेल मले और कमर से काला कपड़ा बाँधे प्रेमी कुमारसचिव साँस रोके मञ्जूषा में बैठा रहा।

उधर प्रेमी नम्बर दो दण्डाधिपति के साथ भी वही सब स्नान-विधि पूरी की गई। उसके कपड़े उतारे गये। तेल में सना काला अँगोछा पहिनने को दिया गया और फिर काले तेल की मालिश भी हुई।

बतलाये गये समय पर राजपुरोहित भी उपस्थित हुआ तो दण्डाधिपति स्वयं भयभीत हो उठा और दासियों से छिपने की जगह पूछने लगा। दासियों ने उसे भी तत्काल मञ्जूषा में छिपा दिया। और फिर राजपुरोहित की भी उसी तरह सेवा-शुश्रूषा आरम्भ कर दी।

रात का तीसरा प्रहर बीतने लगा, तब कामुक हिरण्यगुप्त का आगमन हुआ। अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिये और अपना भण्डा फूटने के भय से राजपुरोहित ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया, अर्थात् वह भी काला तन और काला वस्त्र धारण किये चुपचाप उसी मञ्जूषा में घुस बैठा।

दासियों ने मञ्जूषा की सारी जंजीरें कस दी थीं और वे एक किनारे हट कर खड़ी हो गई थीं।

उपकोशा जलता दीपक हाथ में लिये उसी कमरे में आ पहुँची और हिरण्यगुप्त से पूछने लगी—'मेरे स्वामी का धन तुम्हारे पास धरोहर है न?'

वणिक् ने बड़ी शान कहा—'हाँ, तुम्हारे स्वामी का धन मेरे पास सुरक्षित है, परन्तु मैं तुम्हें तब तक उसमें से एक कौड़ी न दूँगा, जब तक तुम मेरी इच्छा पूरी नहीं करोगी।'

उपकोशा ने कहा—'ठीक है, मैं तुम्हारी सेवा के लिये प्रस्तुत हूँ, परन्तु पहले तुम स्नान कर लो; तब मैं तुमसे बात करूँगी।' और दासियों की ओर देखकर आदेश दिया कि जल्दी से इनके स्नान का प्रबन्ध करो और स्वयं दीपक बुझा कर चली गई।

दासियों ने हिरण्यगुप्त को नंगा करके काला कपड़ा पहिना कर काले तेल की मालिश शुरू कर दी। यहाँ तक कि दिन का प्रकाश फैलने लगा। फिर वे अचानक ही मानो घबरा कर कह उठीं—'हे भगवान्, दिन निकल आया!' और एक साथ ही वे खड़ी हो गईं। हिरण्यगुप्त को बलपूर्वक उठाकर चिल्लाईं—'भागो यहाँ से जल्दी!' और धक्का देकर उसे पिछले दरवाज़े से बाहर कर दिया।

लज्जा और भय में डूबा हिरण्यगुप्त काला लेप लगाये और कमर से काला कपड़ा लपेटे बीच सड़क से भागने लगा तो भौंकते कुत्ते उसके पीछे लग गये। किसी तरह उन कुत्तों से जान बचा कर वह अपने घर पहुँचा। फिर काजल मिले तेल का लेप शरीर से छुड़ाने के लिये तरह-तरह के यत्न करने लगा।

इधर उपकोशा ने राजा के प्रासाद की राह ली और राजा के सामने उपस्थित होकर विनयपूर्वक सुनाया कि किस प्रकार उसका पति वररुचि हिरण्यगुप्त वणिक् के पास एक बड़ी धनराशि धरोहर के रूप में रख गया था और कैसे वह वणिक् उस द्रव्य को हड़प लेना चाहता है।

राजा ने तत्काल ही वणिक् को बुला भेजा। उसके आगे उपकोशा ने पुनः अपनी बात दुहराई। परन्तु वणिक् इस बात से बिलकुल मुकर गया। उसने स्पष्ट स्वर में कहा--'महाराज, इसका या इसके पति का मेरे पास कुछ भी द्रव्य जमा नहीं है। मैं आपसे सत्य कहता हूँ।'

उपकोशा ने प्रत्युत्तर में कहा--'महाराज, मेरे पति द्वारा मञ्जूषा में स्थापित किये गये गृह-देवता ही इस बात के साक्षी हैं कि इसके पास मेरा धन है या नहीं। उन गृह-देवताओं के आगे इसने अपने मुख से धन रखने की बात स्वीकार की है। महाराज, यदि आपकी आज्ञा हो तो उस मञ्जूषा को मैं यहाँ उठवा लाऊँ। आप स्वयं उन गृह-देवताओं से पूछ लें कि मेरा कथन सत्य है या इसका।'

राजा बड़े विस्मय में पड़े। उन्होंने तत्काल अपने सेवकों को उपकोशा के घर से मञ्जूषा उठा लाने के लिये आदेश दिया।...

बीच दरबार में जब मञ्जूषा राजा के आगे लाकर रख दी गई तो उपकोशा ने मञ्जूषा की ओर मुख करके यों कहा--'देवताओ, तुम लोग सत्य-सत्य कहना--इस वणिक् ने तुम्हारे सामने मुझसे क्या कहा था? तभी मैं तुम्हें अपने घर लौटा ले चलूँगी। और यदि तुमने मेरे कथन पर साक्षी न दी तो मैं तुम्हें सबके आगे अभी भरी सभा में मञ्जूषा से उद्घाटित करके छोड़ जाऊँगी। बोलो, गृह-देवताओ, सत्य बोलो।'

उपकोशा की यह बात सुन कर बुरी तरह डरे हुये मञ्जूषा में छिपे बैठे तीनों असफल प्रेमी एक साथ बोल उठे—'सत्य है, इस वणिक् ने हमारे सामने

धन रखने की बात स्वीकार की है। उपकोशा ने जो कुछ कहा है, अक्षरशः सत्य है।'

इस साक्षी पर हिरण्यगुप्त स्तब्ध और निरुत्तर रह गया। क्षण भर मौन रह कर उसने सिर झुका धरोहर वाला धन रखने की बात स्वीकार कर ली। साथ ही उसने सारा धन उपकोशा को लौटा देना भी स्वीकार लिया।

वणिक् तो सिर झुकाये राजसभा से चला गया, परन्तु राजा बड़े भारी कौतूहल से भर उठे और उपकोशा से आग्रह किया कि मञ्जूषा खोल कर इन गृह-देवताओं का उन्हें दर्शन करने दे। उपकोशा ने प्रसन्नभाव से स्वीकृति दे दी।

मञ्जूषा की जजीरें खोल दी गईं। उसका ढक्कन हटा दिया गया। तब कमर से काले कपड़े लपेटे तीन काले भूत मञ्जूषा में उठ कर खड़े हो गये।

थोड़ी देर तो राजा, मंत्री और सभासद चकितभाव से उन तीनों काले पिण्डों को देखते रहे, जिनका वास्तविक स्वरूप अज्ञात था, परन्तु किसी ने भी उन्हें नहीं पहिचाना कि वस्तुतः ये लोग हैं कौन?

फिर सारी सभा उन विकृत वेष वाले काले भूतों को देख कर अट्टहास कर उठी और स्वयं राजा भी हँसने लगे। अन्त में उपकोशा से वास्तविक स्थिति जानने की जिज्ञासा राजा ने प्रकट की। आखिर यह क्या तमाशा है?

उपकोशा ने तब धीर स्वर में आदि से अन्त तक पूरी घटना राजा को कह सुनाई।

सत्य है, शीलवती कुलीन नारियों के चरित अचिन्तनीय होते हैं। राजा सहित सारी सभा बुद्धिमती सती उपकोशा को साधुवाद देने लगी।

राजा ने आज्ञा दी—'परदारा-कामी इन पापियों की सारी सम्पत्ति छीन ली जाय और इन शीलहीन दुराचारियों को तत्काल इस देश से निर्वासित कर दिया जाय।'

उपकोशा को अपने निकट बुला कर राजा नन्द ने उसके सिर पर अपना स्नेह भरा हाथ रखा और भरे गले से कहा—'उपकोशा, आज से तू मेरी बहिन है। मैं तेरे इस अद्भुत चरित्र से अतिशय मुग्ध और विह्वल हूँ।'

राजा ने उपकोशा को बहुत से मूल्यवान् उपहार देकर बिदा किया।

विक्रमसिंह की कथा

उज्जयिनी नगरी के राजा विक्रमसिंह एक बार प्रातःकाल मृगया के निमित्त अपनी नगरी से जब बाहर निकलने लगे तो उन्होंने एक शून्य मन्दिर के द्वार पर दो पुरुषों को बैठे देखा, जो धीरे-धीरे परस्पर कोई मन्त्रणा कर रहे थे। राजा समझ नहीं पाये कि—ये लोग कौन हैं और इस तरह आपस में डूबकर क्या मन्त्रणा कर रहे हैं।

शाम को शिकार से थके-माँदे राजा सेवकों सहित जब उसी मार्ग से लौटने लगे तो देखा कि वे दोनों आदमी उस मन्दिर के आगे उसी तरह बैठे हुये हैं और गुप-चुप कुछ बात कर रहे हैं। राजा के मन में थोड़ा संशय उत्पन्न हुआ कि कहीं ये लोग शत्रु के जासूस तो नहीं हैं?

राजभवन पहुँचते ही राजा ने उन दोनों पुरुषों को पकड़ लाने का आदेश दिया। रात भर वे दोनों कारागार में रहे। दूसरे दिन सबेरे ही राजा के सामने उन्हें उपस्थित किया गया।

छूटते ही राजा ने उनसे प्रश्न किया—तुम लोग कौन हो? कहाँ से आये हो? कल मन्दिर में क्या मन्त्रणा कर रहे थे? सब-सच कहो!'

तब उन दोनों में से एक युवा हाथ जोड़ कर यों वर्णन करने लगा—महाराज! आपकी इसी नगरी में एक कर्मक नाम के वैदिक ब्राह्मण थे। मैं उन्हीं का पुत्र हूँ। मेरी माता और मेरे पिता दोनों का अचानक देहान्त हो गया। तब मैं बालक ही था। सामान्य रूप से मैंने विद्याध्ययन अवश्य किया था, परन्तु अनाथ होने से अपना कुलक्रमागत मार्ग मुझसे छूट गया। संग-साथ से द्यूतविद्या और शस्त्रविद्या के प्रति मैं आकर्षित हो गया। अपने बड़े लोगों का अनुशासन बाल्यकाल में ही जिससे हट जाय वह भला उच्छृङ्खल क्यों न हो जायेगा?

'महाराज, मैं युवा हो गया था। पशुओं का शिकार करने अटवी में एक दिन जब गया हुआ था, तो नगर की ओर से आती एक पालकी मैंने देखी।

पालकी के आगे-पीछे कई आदमी चल रहे थे और पालकी में कोई नई-नवेली बधू बैठी हुई थी। अचानक जाने किधर से एक मदोन्मत्त हाथी आ पहुँचा। मैं देखता रहा---वह खूनी हाथी सीधा पालकी की ओर ही बढ़ रहा था। तब वे सारे रक्षक, जिनमें उस नई बधू का पति भी था, पालकी को वहीं छोड़ इधर-उधर भाग गये। मुझे लगा---कितने कायर हैं ये लोग! अबला बधू को इस तरह अकेली ही छोड़कर पलायित हो गये और अब यह मदमस्त हाथी निश्चय ही इस नारी के प्राण ले लेगा! जो विपत्ति में पड़े प्राणी की रक्षा न करे, उसके जीवन और पौरुष से भला क्या लाभ? ये सारे ही विचार क्षण भर में ही मेरी बुद्धि पर छा गये। पलक मारते ही मैं उस हाथी की ओर हुंकार करके दौड़ा। तब हाथी ने पालकी को छोड़ मुझे ही अपना लक्ष्य बनाया। मैं स्वयं वन में भागकर हाथी को दूर ले गया और एक बड़े वृक्ष की डालियों के पीछे झुरमुट में जा छिपा। क्रुद्ध हाथी ने उस झुरमुट को अपने पैरों से रौंद डाला, जहाँ मैं छिपा बैठा था। परन्तु मैं तो हाथी की आँख बचाकर पहले ही वहाँ से खिसक आया था। झाड़ियों के बीच नीचे-नीचे लुकता-छिपता मैं फिर उसी पालकी के पास जा पहुँचा, जहाँ वह अबला एकाकिनी बधू आकुल भयभीत दृष्टि से चारो तरफ़ देख रही थी। मैंने पास आते ही आश्वासन के स्वर में पूछा---'तुम कुशल से तो हो? कहीं कोई आघात तो नहीं लगा?'

बधू ने हर्ष और विषाद में डूबकर कहा---'जो ऐसे कापुरुष को ब्याही गई हो, उसकी कैसी कुशलता? ऐसे संकट में जो स्वामी मुझे छोड़कर चला गया, उसके लिये भला मैं क्या कहूँ? भगवान् को लाख-लाख धन्यवाद है कि तुम सही-सलामत हो और फिर से तुम्हारा दर्शन पा रही हूँ।

'जिसने मौत के मुँह से मुझे बचाया, अपने प्राणों की बिना परवाह किये जिसने मेरी रक्षा की, वही तो मेरा सब कुछ होगा। इसलिये वस्तुतः अब तो तुम्हीं मेरे पति हो। देखो, वह अभागा नौकरों के साथ लौटकर आ रहा है। तुम ऐसा करो कि कहीं छिप जाओ, और बाद को मुझे ढूंढ़ लेना। फिर हम इकट्ठे होकर कहीं अन्यत्र चले चलेंगे।'

मैंने धीरे से कहा 'तथास्तु।' और मैं वहाँ से हट आया। एकान्त में बैठा यही सोचता रहा कि यद्यपि यह नारी अपने को मुझे अर्पित करने के लिये उद्यत है, परन्तु है तो यह परस्त्री ही। मुझे भला इससे क्या लेना-देना ?

मैं दूर से देखता रहा। वे लोग पालकी उठाकर धीरे-धीरे आगे बढ़ गये। घूमता-घामता मैं भी वहीं जा पहुँचा, जहाँ वे लोग ठहरे हुये थे। वहीं मुझे यह भी पता चला कि अपने शरीर में पीड़ा बतलाकर उस बधू ने कायर पति को अपने शरीर का स्पर्श तक नहीं करने दिया है।

छेड़ी गई सर्पिणी की तरह मन में असह्य दारुण दुख लिये कौन नारी कायर पति को प्यार करेगी ?

'क्रमशः हम लोग लोह नगर में पहुँच गये, जहाँ उस रमणी के वणिक् पति का घर था। मैं एक देवालय में जा ठहरा। वहाँ एक ब्राह्मण युवा से मेरा परिचय हुआ। जन्मान्तर के बन्धु जब मिलते हैं तो अनायास ही उनमें गहरा स्नेह उत्पन्न हो जाता है। हम दोनों का भी यही हाल हुआ। अपने इस नये सखा को मैंने सारी घटना सुना दी। सखा ने मुझे आश्वासन दिया—'बन्धु, तुम घबराओ मत। मैं तुम्हारी पूरी सहायता करूँगा। उस वणिक् की बहिन के साथ मेरा प्रेमभाव है। स्थिति यह है कि—वह मेरे लिये अपने प्राण भी निछावर कर देने में नहीं हिचकेगी। बस, उसी से सहायता ली जायेगी।'

'ननद ने भावज को समझाया। वह अपनी भावज को उसी मन्दिर में ले आई, जहाँ मैं ठहरा हुआ था। उसी मन्दिर में फिर भावज को उसकी ननद ने पुरुष के वेश मे सजा दिया और मेरे मित्र को अर्थात् अपने प्रेमी को अपनी भावज के कपड़े पहिना कर वह वणिक् की बहिन अपने घर ले गई।

'महाराज, पुरुष के वेश में छिपी मेरी प्रिया और मैं इसी उज्जयिनी में चले आये। बाद में फिर मेरा मित्र भी अपनी प्रियतमा को लिये यहीं आ पहुँचा। इस प्रकार हम दोनों ने स्वतः समर्पित उन दोनों नवयुवतियों को दैवेच्छा जान पत्नी रूप में स्वीकार कर लिया है। परन्तु प्रभु! अब हमारी बुद्धि में यह बात नहीं आ रही है कि हम कहाँ रहें और क्या जीविका का उपाय करें ? बस, इन्हीं समस्याओं को लेकर हम दोनों कल सारे दिन मन्त्रणा

करतेरहे, जिस स्थिति में हमें आपने कल वहाँ मन्दिर के आगे देखा था। विश्वास कीजिये, हम किसी शत्रु राज्य के जासूस नहीं हैं और आपके आगे हमने कुछ भी असत्य नहीं कहा है। अब आप जैसा उचित समझें, हमारे साथ व्यवहार कीजिये।'

राजा विक्रमसिंह ने प्रसन्न मुद्रा से कहा—'बन्धुओ, मैं तुम्हारी बातों से आश्वस्त हूँ। किसी प्रकार की कोई चिन्ता मत करो। मैं तुम्हें अभय दान देता हूँ। इसी नगरी में आनन्द से रहो। जीविका के लिये मैं तुम्हें इतना धन दे दूँगा जिससे तुम चारो का जीवन-यापन सुख से होने लगे।'

जो साहसी होते हैं, जो बुद्धिशाली होते हैं, जिनमें विपत्तियों से संघर्ष करने की सामर्थ्य होती है और जो शरण में आये की रक्षा करते हैं—उन्हें किसी न किसी रूप में प्रभु की ओर से अवश्य सहायता मिलती है।

———

हरिशर्मा की कथा

किसी गाँव में हरिशर्मा नाम का कोई ब्राह्मण रहता था। वह मूर्ख तो था ही, साथ ही दरिद्र भी था। उस पर यह कहावत चरितार्थ होती थी कि—'करेला और नीम चढ़ा।' यानी ऐसी दरिद्रावस्था में उसके दस सन्तानें हो गई थीं और काम-धाम का कहीं कोई ठिकाना नहीं।

तब विवश होकर पूरे कुटुम्ब के साथ घूम-घूम कर वह भिक्षा माँगने लगा। भिक्षाटन करते-करते किसी बड़े नगर में पहुँच गया और स्थूलदत्त नाम के किसी धनी गृहस्थ के यहाँ उसने नौकरी कर ली। बालकों को गाय-भैंस चराने पर लगा दिया गया। हरिशर्मा की पत्नी घर का चौका-बर्तन करने लगी और हरिशर्मा स्वयं बाहर का काम देखने लगा। इस तरह पूरे परिवार की गुज़र-बसर होने लगी।

समय आने पर स्थूलदत्त की कन्या के विवाहोत्सव की चहल-पहल शुरू हुई। दूर-दूर से बन्धु-बान्धव और नाते-रिश्तेदार विवाह में सम्मिलित होने आये। हरिशर्मा और उसका पूरा परिवार बाहर से आये अतिथियों को स्वादिष्ट मिष्टान्न और पूड़ी-कचौड़ी खिलाने का प्रबन्ध करता रहा। परन्तु उन अभागों से घर के किसी भी आदमी ने भोजन करने के लिए नहीं कहा।

भूखा-प्यासा हरिशर्मा इस निरादर से दुखी होकर रात को अपनी पत्नी से कहने लगा—'मैं मूर्ख हूँ और दरिद्र हूँ, इसीलिये मेरी और मेरे परिवार की यह दुर्दशा हो रही है। अब बिना कोई चाल चले हमारा गुज़ारा नहीं है। सोचता हूँ, अपने विज्ञ होने का कोई ऐसा नाटक खेलूँ, जिससे इस धनी स्थूलदत्त की आँखों में आदरणीय हो सकूँ। तू एक काम कर। अवसर आने पर तू इस धनिक को बतला कि—मैं बहुत बड़ा विज्ञानी व्यक्ति हूँ।'

पति-पत्नी ने मिलकर एक योजना बनाई और उसी रात में उन्होंने धनिक स्थूलदत्त के घर आये जामाता के घोड़े को चुरा लिया और कहीं दूर ले जाकर उसे छिपा आये।

दिन निकला तो सारे घर में उस घोड़े की चोरी से कोलाहल मच गया। सब नौकर-चाकर चारो दिशाओं में घोड़े को ढूँढने के लिये भागे। पर घोड़ा कहीं न मिला।

जामाता के घोड़े का इस तरह खो जाना एक प्रकार का अमंगल मान कर जब धनिक स्थूलदत्त दुखी मन लिये बैठा था, अवसर पाकर हरिशर्मा की पत्नी ने मालिक के आगे आकर निवेदन किया—'सेठ जी, मेरे स्वामी ज्योतिष-विद्या के भारी पण्डित हैं। घोड़े के लिये आप इतने दुखी हो रहे हैं और घोड़े का पता नहीं लग रहा है। एक बार मेरे स्वामी को बुला कर उनसे भी पूछिये न, आख़िर उनकी ज्योतिष-विद्या किस दिन काम आयेगी ?'

धनिक ने तत्काल हरिशर्मा को बुलवाया। हरिशर्मा छूटते ही बोला—'सेठ जी, अब तक तो मुझे किसी ने खाने तक के लिये न पूछा। घोड़े की चोरी हो जाने पर अब आपको मेरी याद कैसे आई ?'

दुखी सेठ बोला—'भाई, मेरे इस अपराध को तुम क्षमा करो। अनजाने जो ग़लती हुई है, उसे भूल जाओ। जो समस्या हमारे सामने है, इसके समाधान का उपाय सोचो। सुना है—तुम बहुत बड़े ज्यौतिषी हो। अपनी विद्या से विचार करके कहो तो, हमारे जामाता का घोड़ा किसने चुराया है ?'

तब हरिशर्मा झूठ-मूठ अपनी अँगुलियों पर कुछ गणना करके बड़ी शान से बोला—'घोड़ा आपका दक्षिण दिशा में गया है। उसे छिपा कर रखा गया है। दिन डूबने से पहले उसे मँगवा लीजिये। नहीं तो फिर घोड़ा आपके हाथ नहीं आयेगा। जल्दी कीजिये।'

सेठ ने तत्काल अपने आदमी दौड़ाये और दिन डूबने से पूर्व ही वे दक्षिण दिशा से, जहाँ हरिशर्मा ने उसे छिपा दिया था, घोड़े को खोजकर ले आये।

चारो ओर हरिशर्मा की प्रशंसा होने लगी। सब एक दूसरे से कहने लगे—'वाह वाह, यह ब्राह्मण हरिशर्मा कितना बड़ा ज्ञानी पुरुष निकला !'

स्थूलदत्त का तो कहना ही क्या था। हरिशर्मा के सहारे ही उसकी इज्ज़त बच गयी थी। फलतः वह हरिशर्मा का उस दिन से बड़ा सम्मान करने लगा।

इस प्रकार धनिक के घर में हरिशर्मा और उसके पूरे परिवार का बड़े आदर सत्कारपूर्वक निर्वाह होने लगा।

दिन बीतते गये बीतते गये और तब अचानक ही एक घटना हो गई--- राजा के महल से किसी चोर ने बहुमूल्य स्वर्ण-रत्नाभूषण चुरा लिये। हज़ार प्रयत्न करने पर भी जब चोर का पता नहीं लगा तब किसी ने राजा को सूचित किया कि---स्थूलदत्त धनिक के घर कोई ज्ञानी ब्राह्मण रहता है। उससे चोरी का पता क्यों न पूछा जाय ?

राजा ने तत्काल हरिशर्मा को बुला भेजा। उससे चोरी की बात कही और चोर का पता पूछा। हरिशर्मा ने हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक कहा---'प्रभु, मैं कल सुबह तक आपको चोर का नाम और पता, सब बतला दूँगा।'

वास्तव में वे सारे स्वर्ण-रत्नाभूषण एक दासी ने अपने भाई की सहायता से राजभवन से चुरा लिये थे। हरिशर्मा की यह ख्याति चारो ओर फैल चुकी थी कि वह फ़ौरन चोरी का पता लगा लेता है। उस दासी को यह भी मालूम हो गया था कि राजा ने चोर का पता लगाने को हरिशर्मा से कहा है और हरिशर्मा दिन निकलते-निकलते चोर का नाम और पता बतलाने को कह गया है। घबरायी-घबरायी वह दासी उसी रात हरिशर्मा के निवास-स्थान पर पहुँची और दरवाज़े पर कान लगा कर सुनने लगी कि वह क्या कह रहा है।

हरिशर्मा बेचारा एकाकी बैठा झूठ-मूठ का ज्योतिष बखानने वाली अपनी जिह्वा को यों ही कोस रहा था---'अरे दुराचारिणी जिह्वा, यह तूने क्या किया ? लिप्सा में डूब कर तूने जो अपराध किया है, अब उसका फल भोग। कल दिन निकलते ही असली बात का पता लगने पर कि--तू मिथ्यावादिनी है, राजा तुझे निश्चय ही कटवा देगा। अब तेरे निस्तार का कोई उपाय नहीं। हाय री जिह्वा !'

होनहार की बात थी कि उस दासी का नाम भी 'जिह्वा' ही था। हरिशर्मा का अपनी जिह्वा को कोसना उस दासी ने अक्षरशः सुन लिया था और उसने यही अनुमान लगाया कि मुझी को लक्ष्य करके यह ज्ञानी ब्राह्मण अपनी विद्या के बल से सत्य को उद्घाटित कर रहा है।

बिना एक क्षण का विलम्ब किये वह जिह्वा नाम की दासी हरिशर्मा की

कोठरी में घुस पड़ी और उसके चरणों पर सिर रखकर रोने लगी। इस घटना से हरिशर्मा क्षण भर के लिये हक्का-बक्का रह गया। उसने दासी को अपने पैरों से उठाया और रोने का कारण पूछने लगा।

दासी रोते-रोते बोली—'देवता, तुम सब कुछ तो जानते ही हो, फिर मुझसे रोने की बात क्यों पूछ रहे हो? तुम्हारे आगे मैं सारी बातें स्वयं स्वीकार कर रही हूँ—जिसकी अभी-अभी तुम निन्दा कर रहे थे, वह अभागिनी 'जिह्वा' मैं ही हूँ। मेरा ही नाम जिह्वा है और मैंने ही यह चोरी की है। मैं तुम्हारे आगे स्वीकार करती हूँ कि मैंने भाई के सहारे राजमहल से सारा माल निकाल कर उद्यान में अनार के पेड़ के नीचे गड्ढा खोद कर छिपा दिया है। अपनी पूरी पाप-कथा मैंने तुम्हें सुना दी है। अब मेरी जान तुम्हारे हाथों में है। चाहे मेरी रक्षा करो, चाहे मुझे फाँसी लगवा दो।'—इतना कह कर वह दासी फिर फूट कर रोने लगी।

तब हरिशर्मा ने छाती तान कर कहा—'तू रो मत। मैं तो आदमी का भूत, भविष्य, वर्त्तमान—सभी कुछ जानता हूँ और शरण में आये की रक्षा करना अपना परम धर्म मानता हूँ। तू निश्चिन्त होकर अपने घर जा। मैं तेरा नाम राजा के आगे नहीं लूंगा। जा, मैं तुझे अभय-दान देता हूँ।'

दासी सन्तुष्ट होकर चली गई और हरिशर्मा निश्चिन्त होकर लम्बी तान कर सो गया।

दिन निकलते ही वह राजा के पास भागा-भागा गया। राजा को उद्यान में ले गया। अनार के पेड़ के पास पहुँच कर बड़े धीरभाव से बोला—'यहाँ खुदवाइये महाराज!'

उस जगह सेवकों के द्वारा थोड़ा खोदते ही सारे स्वर्ण-रत्नाभूषण मिट्टी के नीचे दबे मिल गये। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने ज्योतिष-ज्ञानी हरिशर्मा को एक पूरा ग्राम ही उपहार में दे दिया। हरिशर्मा सारे राज्य में एक महान् ज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

परन्तु मंत्री के मन में बराबर यह शंका बनी रही कि हरिशर्मा का यह सारा कृत्य धूर्तता भरा है। बिना सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान के आदमी इस तरह किसी बात

का पता नहीं लगा सकता, जब कि हरिशर्मा एकदम अपढ़-गँवार व्यक्ति है। इसलिये एक बार इसकी परीक्षा होनी चाहिये, जिससे सिद्ध हो जाय कि वास्तविकता क्या है।

मंत्री ने राजा के आगे अपना विचार प्रकट किया और हरिशर्मा की परीक्षा की एक योजना बताई।

नये घड़े में एक मेंढक को रख कर उस घड़े का मुँह ढाँप दिया गया। हरिशर्मा को उसके घर से बुलवाया गया। राजा ने उस घड़े की ओर संकेत करके हरिशर्मा से कहा—'ब्राह्मणराज, इस घड़े में क्या है, यदि तुम बतला सकोगे तो मैं तुम्हारी बहुत बड़ी पूजा करवाऊँगा। बोलो तो, इस घड़े के भीतर क्या है?'

अपना नाश-काल निकट जान हरिशर्मा भय से काँप उठा। बचपन में वह बहुत खिलाड़ी था और हमेशा चारो ओर कूदता-फाँदता रहता था। उसकी यह आदत देख पिता उसे 'मण्डूक' कह कर पुकारने लगे थे। आज अचानक जाने कैसे हरिशर्मा को अपने पिता का रखा वही नाम स्मरण हो आया। तकदीर की बात थी कि इसी समय उसे अपने 'मण्डूक' नाम की स्मृति कैसे आ गई!

व्याकुल हरिशर्मा अपना आपा भूल कर, राजा की उपस्थिति को भी भूल कर, दिग्भ्रान्त की तरह बड़बड़ाने लगा—'हाय अभागे मण्डूक, यह घड़ा ही आज तुम्हारे विनाश का कारण हो गया! तुम निरपराध हो, इस बात को कोई नहीं मानेगा। अब तो भगवान् ही तुम्हारे रक्षक हैं!'

हरिशर्मा का यह अनर्गल प्रलाप सुनते ही सारे दर्शक और स्वयं राजा—'धन्य-धन्य!' कह उठे। सभी महान् आश्चर्य में डूब गये। हरिशर्मा के ज्ञानी होने पर अब किसी को सन्देह नहीं रहा।

राजा ने इस परीक्षा से परम सन्तुष्ट होकर हरिशर्मा को फिर कई ग्राम, स्वर्ण अन्न और हाथी-घोड़े उपहार में दिये।

हरिशर्मा की पद-मर्यादा उस दिन से एक सामन्त-जैसी हो गई।

दैव यदि अनुकूल रहे तो क्या नहीं हो सकता।

श्रीदत्त की कथा

मालव देश में किसी समय यज्ञसोम नामक ब्राह्मण के यहाँ दो पुत्र हुये थे, जिनमें एक का नाम था कालनेमि और दूसरे का विगतभय। पिता का स्वर्गवास हो जाने पर और बचपन बीत जाने पर वे दोनों भाई विद्या-प्राप्ति के लिये पाटलिपुत्र चले गये।

पाटलिपुत्र में उपाध्याय देवशर्मा ने उन दोनों को समस्त विद्याओं का दान तो दिया ही, साथ ही मूर्तिमती विद्या जैसी अपनी दो पुत्रियों का विवाह भी उन दोनों शिष्यों से कर दिया।

गृहस्थ बने कालनेमि ने जब नगर में अन्य गृहस्थों की सम्पत्ति और ऐश्वर्य भरी स्थिति देखी तो वह ईर्ष्यालु हो उठा और स्वयं धनाढ्य बनने के लिये व्रती होकर होमक्रिया के द्वारा लक्ष्मी देवी को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगा। उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवती लक्ष्मी ने साक्षात् प्रकट होकर उसे वरदान दिया—'बेटा, तुम्हें कल्पनातीत धन-प्राप्ति होगी और राज्यपद प्राप्त करने वाला पुत्र भी तुम्हें उपलब्ध होगा। परन्तु अन्त में चोर की तरह तुम्हारा वध किया जायेगा। क्योंकि तुमने ईर्ष्या से कलुषित मन लेकर अग्नि में आहुतियाँ दी हैं।'

ऐसा अद्भुत वरदान देकर लक्ष्मी देवी तिरोहित हो गईं। कालनेमि देखते-देखते धनाढ्य बन गया। थोड़े दिनों पीछे उसे पुत्र-प्राप्ति भी हो गई।

क्योंकि 'श्री' के वर से ही वह पुत्र उसे मिला था, अतएव पूर्णमनोरथ कालनेमि ने पुत्र का नाम 'श्रीदत्त' ही रख दिया।

क्रमशः युवावस्था को प्राप्त श्रीदत्त ने ब्राह्मण होते हुये भी अस्त्र-विद्या और मल्ल-विद्या में अद्भुत प्रतिभा प्राप्त कर ली।

कालनेमि का दूसरा भाई विगतभय सर्प के द्वारा पत्नी की मृत्यु हो जाने पर उसकी सद्गति के लिये तीर्थयात्री होकर देशान्तर को चला गया।

गुणियों का आदर करने वाले पाटलिपुत्र के राजा वल्लभशक्ति ने अपने पुत्र विक्रमशक्ति के साथ गुणी ब्राह्मण-युवा श्रीदत्त की मैत्री करा दी। इस प्रकार अभिमानी राजपुत्र के साथ श्रीदत्त का संग-साथ तो अवश्य हो गया, परन्तु यह संग-साथ ठीक वैसा ही था, जैसा बाल्यावस्था में दुर्योधन के साथ भीमसेन का हुआ था।

अवन्ति देश में जन्मे दो क्षत्रिय युवकों, वज्रमुष्टि और बाहुशाली से श्रीदत्त का बहुत ही गहरा सखाभाव हो गया। इसी तरह बाहुयुद्ध में जीते गये और भी कई दक्षिणी मन्त्रिपुत्रों के साथ उसकी सहज मैत्री हो गई। इन लोगों के नाम थे—महाबल, व्याघ्रभट, उपेन्द्रबल और निष्ठुरक।

एक बार वर्षा ऋतु में गंगा के किनारे विहार करने के लिये राजपुत्र विक्रमशक्ति तथा अन्य मित्रों के साथ श्रीदत्त घर से निकला। वहाँ गंगा के किनारे राजपुत्र के सेवकों ने जब उसे अपना राजा मानकर सत्कार करना आरम्भ किया तो श्रीदत्त के मित्रों ने भी श्रीदत्त को अपना राजा मान लिया।

इस ज़रा-सी बात को लेकर राजपुत्र विक्रमशक्ति अतिशय रुष्ट हो उठा और अहंकार में डूब कर उसने वीर ब्राह्मण-युवा श्रीदत्त को युद्ध के लिये ललकारा।

उन दोनों का बाहु-युद्ध हुआ। युद्ध में श्रीदत्त ने राजपुत्र को बुरी तरह पराजित कर दिया। पराजित राजकुमार तब मन ही मन सोचने लगा कि इस बर्धिष्णु ब्राह्मण का मैं बध करा दूँगा।

राजपुत्र के ऐसे निकृष्ट अभिप्राय को जानकर श्रीदत्त के मित्र बहुत शंकित हो उठे और श्रीदत्त को वहाँ से दूर ले गये।

श्रीदत्त को साथ लिये जब वे सारे मित्र किनारे-किनारे हँसते-बोलते बढ़ रहे थे तो अचानक सब लोगों ने गंगा की धार में किसी नारी को बहते देखा, मानो समुद्र-सुता लक्ष्मी ही इस प्रवाह में बहती चली आई हो।

अपने सभी साथियों को तट पर खड़ा छोड़कर उस नारी को प्रवाह से निकालने के लिये श्रीदत्त गंगा में कूद पड़ा।

दूर पानी में डूबती-उतराती उस नारी को यद्यपि श्रीदत्त ने बालों से पकड़

लिया था, फिर भी जाने कैसे उस नारी को लिये-दिये वह अथाह जल में नीचे चला गया।

अथाह जल में डूबे श्रीदत्त की जब पल भर बाद आँखें खुलीं तो उसने देखा कि वह एक शिवमन्दिर के आगे खड़ा है। वहाँ न तो कहीं आस-पास जल-प्रवाह था और न तो वह नारी ही। भगवान् महेश्वर को प्रणाम करके थका-माँदा श्रीदत्त वहीं उद्यान में उस रात सोया पड़ा रहा। दिन निकला तो भगवान् की पूजा करने के लिए आई हुई एक नवयुवती पर उसकी दृष्टि पड़ी, जो मूर्तिमती रति सरीखी थी।

वह चन्द्रमुखी जब पूजा करके घर जाने लगी तो श्रीदत्त भी उसके पीछे हो लिया। बिना एक शब्द बोले वह युवती आगे बढ़ती गई और अपने सुरपुरी जैसे निवास-गृह में घुसकर पलंग पर जा बैठी, जो चारो ओर से असंख्य युवतियों से घिरा हुआ था।

निःशंक श्रीदत्त उस रूपवती के पास पहुँचा ही था कि अकस्मात् उस नवयुवती ने रोना शुरू कर दिया। तरुणी की आँखों से अश्रुधारा बहती देखकर श्रीदत्त का हृदय करुणा से भर उठा। वह आश्वासन भरी वाणी से पूछने लगा—'सुन्दरी, तुम कौन हो और तुम पर क्या दुख पड़ा है जो तुम इस तरह रो रही हो? मैं अपनी पूरी शक्ति से तुम्हारे दुख को मिटाने की चेष्टा करूँगा। मेरा विश्वास करो।'

तब उस नवयुवती ने अपने आँसू पोंछकर श्रीदत्त को बतलाया कि वह दैत्य-पति राजा बलि की पौत्री है और उसकी एक हज़ार बहिनें हैं, जिनमें वही सबसे बड़ी है और उसका नाम विद्युत्प्रभा है। विद्युत्प्रभा ने आगे कहा—'भगवान् विष्णु ने हमारे पितामह को लम्बी अवधि के लिये बन्धन-युक्त कर दिया। हमारे पिता को बाहुयुद्ध में मार डाला। हम लोगों को अपनी नगरी से निकाल दिया और एक सिंह की नियुक्ति कर दी कि वहाँ कोई प्रवेश न कर सके। हमारा शत्रुभूत वह सिंह बराबर प्रवेश-द्वार पर बैठा रहता है और हम लोग अपनी पुरी में घुसने में असमर्थ हैं। वीरवर, तुम हमारे ऊपर इतनी दया करो कि उस केसरी को समाप्त कर दो। इसी दुष्कर कार्य के लिये मैं तुम्हें यहाँ ले आई हूँ। उस केसरी को यदि तुम जीत लोगे तो वह तुम्हें 'मृगांक खड्ग'

प्रदान करेगा, जिसके प्रभाव से तुम इस वसुन्धरा को जीतकर सम्राट् हो सकोगे।'

दूसरे दिन श्रीदत्त ने बाहु-युद्ध के द्वारा जब उस सिंह को जीत लिया तो वह पुरुष की आकृति में बदल गया। वस्तुतः वह कुबेर का कोई यक्ष था, जो शापवश सिंह बना हुआ था। शापमुक्ति हो जाने से पुरुषवेशधारी उस सिंह ने सन्तुष्ट होकर अपने शाप का अन्त करनेवाले श्रीदत्त को 'मृगांक खड्ग' उपहार-स्वरूप दे दिया और उन एक सहस्र असुर कुमारियों के दुख की तरह अदृश्य हो गया।

तब विद्युत्प्रभा ने अपनी बहिनों के साथ अपनी पुरी में प्रवेश किया और अपने परम उपकारी युवा श्रीदत्त को एक अँगूठी भेंट में दी, जिसमें भयंकर से भयंकर विष को भी हरण करने की सामर्थ्य थी।

वस्तुतः श्रीदत्त उस रूपलावण्य-शालिनी युवती के प्रति अभिलाषी हो उठा था। परन्तु बुद्धिमती विद्युत्प्रभा ने उसके मन की बात जानकर भी शान्त-भाव से कहा—'देखिये, यह इधर बावड़ी है। आप उसमें स्नान कर लीजिये, परन्तु इस खड्ग को अपने साथ रखना मत भूलियेगा।'

श्रीदत्त ने उसकी बात मानकर खड्ग हाथ में लेकर बावड़ी में डुबकी मारी। डुबकी मार कर जब वह बाहर निकला तो उसी गंगा-तट पर अपने को खड़ा पाया, जहाँ वह जल में उतरा था।

सिंह का दिया वह खड्ग और असुर कन्या की दी हुई अँगूठी उसके पास थी। आश्चर्य और विषाद में डूबा श्रीदत्त खड़ा-खड़ा थोड़ी देर सोचता रहा कि किस तरह विद्युत्प्रभा ने उसे धोखा दे दिया। फिर अपने मित्रों को ढूँढ़ने के लिये जब वह घर की ओर चलने लगा तो राह में ही एक मित्र निष्ठुरक से उसकी भेंट हो गई।

अपने स्वजनों का समाचार पूछने पर निष्ठुरक ने उसे बतलाया—'गंगा में तुम्हारे डूब जाने पर हम लोग बहुत दिनों तक तुम्हारी खोज करते रहे। अन्त में निराश होकर वहीं अपना प्राणान्त कर लेने को उद्यत होने लगे तो

सहसा आकाशवाणी सुन पड़ी—'तुम लोग अपना अन्त मत करो। तुम्हारा सखा श्रीदत्त जीवित अवस्था में शीघ्र ही तुमसे मिलेगा।'

'आश्वस्त होकर तब हम लोग तुम्हारे पिता के पास चल दिये। मार्ग में हमारी एक भले आदमी से भेंट हुई उसने हमें बतलाया—'तुम लोगों का नगर में जाना उचित नहीं है। चूँकि राजा वल्लभशक्ति अचानक मर गया है और मंत्रियों ने विक्रमशक्ति को सिंहासन पर बैठा दिया है। राजा होते ही विक्रमशक्ति तुम्हारे मित्र श्रीदत्त के पिता कालनेमि के पास पहुँचा था और उनसे श्रीदत्त का पता पूछा था। श्रीदत्त के पिता ने जब कहा कि उन्हें कुछ नहीं मालूम तो उस दुष्ट ने चोरी का लाञ्छन लगा कर श्रीदत्त के पिता ब्राह्मण कालनेमि को सूली पर चढ़ा दिया। पति की मृत्यु से व्यथित होकर श्रीदत्त की माता ने भी प्राण-त्याग कर दिया। अब वह पापी विक्रमशक्ति श्रीदत्त की हत्या करने के लिये उसकी तलाश कर रहा है। इसलिये भाइयो, तुम लोग पाटलिपुत्र न जाकर कहीं अन्यत्र चले जाओ।'

'इस समाचार से अतिशय खिन्न होकर तुम्हारे बाहुशाली इत्यादि पाँचो सखा उज्जयिनी का ओर चले गये और अकेले मुझे छोड़ गये कि मैं तुम्हारा पता लगा कर तुम्हें साथ ले आऊँ। सो अब चलो, हम दोनों भी उज्जयिनी चलें।'

गंगा में डुबकी मारने से लेकर अब तक की पूरी कहानी अपने मित्र निष्ठुरक को सुनाता हुआ श्रीदत्त जब धीरे-धीरे उज्जयिनी की ओर चला जा रहा था, अचानक राह में रोती-बिलखती एक नारी पर उन दोनों की दृष्टि पड़ी।

उस नारी ने रोते-रोते बतलाया कि वह मालवा की ओर जा रही थी और मार्ग भूल गई। इसीलिये व्याकुल होकर रो रही है।

दयालु श्रीदत्त ने उस अबला को भी अपने साथ ले लिया। चलते-चलते वे लोग एक जनशून्य नगर में जा पहुँचे और रात को वहीं एक सूने घर में सो गये।

रात्रि में अचानक ही श्रीदत्त की आँख खुल गई तो उसने एक भयंकर दृश्य देखा कि वह नारी साथी निष्ठुरक को मार कर बड़े प्रेम से उसका मांस खा रही है। श्रीदत्त फ़ौरन ही मृगांक खड्ग को खींच कर खड़ा हो गया। तब वह नारी भी अपने वास्तविक राक्षसी रूप में सामने बैठी दीखी।

उसके बाल पकड़ कर जब श्रीदत्त उसका सिर काटने लगा तो सहसा वह राक्षसी दिव्य रूप-धारिणी रमणी बन गई और हाथ जोड़ कर श्रीदत्त से याचना करने लगी—'मेरी जान मत लो। मैं कोई राक्षसी नहीं हूँ। विश्वामित्र मुनि के शाप से मेरी यह स्थिति हो गई थी। धनपति कुबेर के पद को प्राप्त करने के लिये तपस्या करने वाले महामुनि विश्वामित्र की तपस्या में विघ्न डालने के लिये कुबेर ने मुझे उनके पास भेजा था।

अपने रूप-यौवन से जब मैं मुनि को आकर्षित न कर सकी, तो लज्जित होकर उन्हें भयभीत करने के लिये मैंने वीभत्स रूप धारण कर लिया। यह देख मुनि ने शाप दे दिया कि—'पापिनी, तू राक्षसी हो जा। मनुष्य का मांस भक्षण कर।'

तुम्हारे इस केश-ग्रहण से मेरे शाप का अन्त हो गया है। इसलिये अब तुम मुझे मारो मत। तुम्हारा जो अभीप्सित हो, मुझसे कहो। मैं उसे पूरा करने की चेष्टा करूँगी।'

श्रीदत्त ने शान्तभाव से कहा—'मुझे कोई कामना नहीं है। तुम केवल मेरे इस मित्र को पुनर्जीवित कर दो।'

उस दिव्य नारी के 'एवमस्तु' कह कर अदृश्य होते ही श्रीदत्त का सखा निष्ठुरक अक्षत शरीर के साथ जीवित हो उठा। प्रसन्न और चकित होता हुआ श्रीदत्त अपने मित्र के साथ उज्जयिनी नगरी में जा पहुँचा।

जैसे बादल को देख कर मयूर हर्षविह्वल होकर नाच उठते हैं, ठीक वही हाल श्रीदत्त को सामने पाकर उसके मित्रों का हुआ। श्रीदत का सखा बाहुशाली उसे अपने घर ले गया। बाहुशाली के माता-पिता ने अपने बेटे की तरह उसे स्नेह दिया।

जब इस तरह सुख-चैन के बीच उन लोगों के दिन बीत रहे थे, वसन्तोत्सव के अवसर पर अपने मित्रों के साथ श्रीदत्त मेले में गया। वहाँ उसे दैवात राजा विम्बकि की कन्या मृगांकवती के दर्शन हुए। साक्षात् शरीरधारिणी वसन्तश्री सरीखी वह कन्या श्रीदत्त के आश्चर्य से विकसित हुए नयनों के मार्ग से मानो उसके हृदय में प्रवेश कर गयी।

मृगांकवती की भी प्रथम प्रेम को प्रकट करने वाली स्निग्ध दृष्टि श्रीदत्त की ओर ऐसे आती-जाती रही मानो कोई नर्मदूती हो।

अचानक ही वह राजपुत्री वृक्षों की ओट हो गई तो श्रीदत्त का हृदय भी मानो शून्य हो गया। उसका दिशा-ज्ञान भी जाता रहा कि किधर जाय और क्या करे ?

बाहुशाली एक किनारे से खड़ा यह सब देख रहा था। उसने श्रीदत्त के कन्धे पर हाथ रखकर कहा—'बन्धु, मैंने तुम्हारे हृदय की बात जान ली है। देखो, मुझसे कुछ भी छिपाना मत। चलो, हम दोनों राजकुमारी का पता लगायें कि वह गई किधर ?'

तभी अचानक उत्सव में चारो ओर शोर मचा कि—राजकुमारी को साँप ने डस लिया ! नारियों के हाहाकार को सुनकर श्रीदत्त का हृदय भी हाहाकार कर उठा।

तब बाहुशाली ने आगे बढ़ कर राजकुमारी के कञ्चुकी से जल्दी-जल्दी कहा—'मेरे मित्र के पास विष उतारने वाली एक अँगूठी है।'

इतना सुनते ही वह कञ्चुकी श्रीदत्त को प्रणाम करके उसका हाथ पकड़ कर राजकन्या के पास फ़ौरन ले गया। श्रीदत्त ने वहाँ पहुँचते ही निष्प्राण-सी पड़ी राजकुमारी की अँगुली में वह विष-नाशिनी अँगूठी पहिना दी। अँगूठी के प्रभाव से कुछ पल बीतते-बीतते ही राजकुमारी पुनर्जीवित हो उठी।

चारो ओर हर्ष की लहर बह गई। इस समाचार को सुन कर राजा विम्बकि स्वयं वहाँ आ पहुँचे। श्रीदत्त अपने मित्र बाहुशाली के साथ चुपचाप वहाँ से खिसक आया।

दूसरे दिन राजा ने प्रसन्नतापूर्वक बहुत-सी स्वर्ण-मुद्रायें श्रीदत्त के लिये उपहार-स्वरूप भिजवाईं। वह सारी द्रव्य-राशि श्रीदत्त ने बाहुशाली के पिता को समर्पित कर दी। परन्तु वह मन ही मन मृगांकवती की चिन्तना करके सन्तप्त होता रहा। मित्रों को उसकी यह मानसिक व्यथा यद्यपि ज्ञात हो गई थी, परन्तु वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ ही रहे।

अगले दिन अप्रत्याशित रूप से उस अँगूठी को लौटाने के बहाने राजकुमारी

की सखी भावनिका श्रीदत्त के पास आई और कहने लगी—'सौम्य, मेरी सखी ने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि या तो प्राणदान देनेवाले तुम उसके पति होओगे या फिर वह मृत्यु को वरण करेगी।'

भावनिका के साथ उन लोगों ने मन्त्रणा की कि हम चुपचाप किसी उपाय से राजकुमारी को महल से निकाल लें। और फिर वहाँ से मथुरा की ओर चले जायँ। इस योजना को हृदय में रख कर भावनिका राजभवन को लौट गई।

दूसरे दिन बाहुशाली तीन मित्रों को साथ लेकर व्यापार के बहाने मथुरा की ओर प्रस्थान कर गया।

इधर श्रीदत्त ने भी किसी अज्ञातनामा नारी को, जो अपनी बेटी के साथ इधर-उधर घूम रही थी, राजकुमारी के आवास में शराब पिलाकर ठहरा दिया।

उसके बाद रात में ही उस आवास में दीपक से आग लगा कर राजकुमारी को साथ लिये भावनिका छिपी-छिपी बाहर निकल आई।

बाहर दूर खड़े श्रीदत्त ने अपनी प्रिया को पाकर पहले से मथुरा की ओर गये बाहुशाली के पास भेज दिया। और सहायता के लिये भावनिका तथा दो मित्रों को साथ कर दिया।

इधर राजमहल में शराब के नशे में डूबी वह अज्ञातनामा नारी अपनी लड़की के साथ जल मरी। सब लोगों ने यही समझा कि सखी समेत राजकुमारी का दाह हो गया।

दूसरी रात अपने मृगांक खड्ग को साथ लिये श्रीदत्त ने भी उसी मार्ग को पकड़ा जिधर उसकी प्रिया गयी थी।

दिन निकलते-निकलते वह विंध्याटवी के किनारे जा पहुँचा। वहाँ क्या देखता है कि भावनिका के साथ उसके साथी ज़मीन पर घायल होकर पड़े हुए हैं।

वे सब श्रीदत्त को देखकर एक साथ ही चिल्ला उठे—'अश्वारोहियों की एक सेना ने हमको घायल करके लूट लिया है और एक अश्वारोही भयाकुल राजकुमारी को अपने घोड़े पर बिठा कर भगा ले गया। अभी वे लोग बहुत

दूर नहीं गये होंगे। इसी दिशा से फ़ौरन जाओ। यहाँ मत रुको। जाओ, जल्दी करो।'

बहुत दूर तक दौड़ लगाकर श्रीदत्त अश्ववाहिनी के पास जा पहुँचा। उसने देखा कि एक क्षत्रिय कुमार घोड़े पर राजकुमारी को बिठाये लिये जा रहा है। श्रीदत्त उसके आगे जा खड़ा हुआ और राजकुमारी को उतार देने के लिये उससे निवेदन किया। उस क्षत्रिय युवा ने श्रीदत्त की बातों पर कोई ध्यान न दिया। यह राजकुमारी को सरलता से नहीं छोड़ेगा—जान कर श्रीदत्त ने पैर पकड़ कर उस क्षत्रिय युवा को घोड़े से नीचे खींच लिया और शिला पर उसे दे मारा।

चारो ओर से उस पर धावा करने वाले अन्य अश्वारोहियों को जब वह काटने लगा तो कुछ तो मर गये, बाक़ी भाग गये।

तब फिर उसी घोड़े पर राजकुमारी को साथ लेकर श्रीदत्त अपने घायल साथियों की ओर भागा। परन्तु थोड़ी दूर वह आगे बढ़ पाया होगा कि संग्राम में चोट खाया वह घोड़ा अचानक गिरा और मर गया।

घोड़े से उतर कर दूर खड़ी भय और श्रम से अर्धमृत बनी मृगांकवती प्यास से व्याकुल हो रही थी। तब उसे इसी हालत में छोड़कर श्रीदत्त पास-पड़ोस में कहीं जल की तलाश करता दूर निकल गया। यहाँ तक कि सूरज का गोला पश्चिम में डूब गया।

जल तो उसे मिल गया, परन्तु लौटते हुये वह रास्ता ही भूल गया और वहीं वन में पूरी रात बिताने को विवश हो गया। सबेरे जब वह उस स्थान पर लौट कर पहुँचा, जहाँ घोड़ा मरा पड़ा था तो अपनी प्रिया मृगांकवती को उसने ग़ायब पाया।

मोह से विह्वल होकर अपना खड्ग वहीं ज़मीन पर रख वह एक ऊँचे पेड़ पर चढ़ गया और वहाँ से चारों ओर दृष्टि डाल कर मृगांकवती को खोजने लगा।

ठीक उसी समय उस मार्ग से कोई शबराधिपति गुज़रा और पेड़ के नीचे पड़ा श्रीदत्त का खड्ग उसने उठा लिया। श्रीदत्त उसे नीचे खड़ा देख पेड़ से उतर आया और अपनी प्रिया के विषय में उससे पूछने लगा।

उत्तर में शबराधिपति ने कहा—'तुम अभी तत्काल मेरी बस्ती की ओर चले जाओ। मेरा ख़्याल है कि तुम्हारी वह प्रिया उधर ही गई है। मैं भी उधर ही आ रहा हूँ और वहीं तुम्हारा यह खड्ग भी तुम्हें लौटा दूँगा।'

श्रीदत्त उसके आदमियों के साथ बस्ती में चला गया। उन लोगों ने एक घर में उसे ठहराया और कहा कि—तुम यहीं आराम करो। मालिक अभी आते ही होंगे।

थका-हारा श्रीदत्त लेटते ही सो गया। रात में अचानक जब उसकी आँख खुली तो उसके दोनों पैर मोटी रस्सी से बँधे हुये थे।

क्षण भर के लिये सुख देने वाली और दूसरे ही क्षण व्यथा देने वाली दैवगति सरीखी अपनी प्रिया की चिन्तना करता हुआ वह यों ही पड़ा रहा।

इस तरह जब श्रीदत्त के एक-एक करके वे कष्ट भरे दिन बीत रहे थे तो किसी समय शबराधिपति की मोचनिका दासी उसके पास आ खड़ी हुई और दुख भरे स्वर में कहने लगी—'भले आदमी, तुम यहाँ मरने के लिये क्यों चले आये? अपने किसी आवश्यक कार्य के लिये हमारे मालिक कहीं गये हुये हैं। लेकिन वे लौटते ही चण्डिका माता को तुम्हारी बलि चढ़ा देंगे। इसीलिये वे तुमको विंध्याटवी से यहाँ लाये हैं और तुमको इस प्रकार बाँध कर डाल दिया है। अब तो तुम्हारे छुटकारे का एक ही उपाय है। मालिक की बेटी 'सुन्दरी' तुम्हारे रूप-यौवन पर मुग्ध है। यदि तुम उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लो तो तुम्हारी रक्षा हो सकती है।'

छुटकारे के लिये लालायित श्रीदत्त ने फ़ौरन कहा कि—वह प्रस्तुत है। फिर उसी रात गान्धर्व-विधि से सुन्दरी को उसने अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया।

तब से फिर हर रात सुन्दरी उसके पास आती। बन्धन खोल देती। वे दोनों सुख उठाते और सुन्दरी बन्धन ज्यों का त्यों करके लौट जाती। अन्ततोगत्वा वह गर्भवती भी हो गई।

दासी मोचनिका के मुख से पूरी बात जान कर सुन्दरी की माता स्नेह के कारण श्रीदत्त के पास स्वयं चली आई और प्यार भरे स्वर में कहने लगी—

'बेटा, सुन्दरी का पिता श्रीचण्ड भयंकर क्रोधी आदमी है। यदि वह तुम्हारे इस सम्बन्ध की बात जान पायेगा तो निश्चय ही तुम्हारी हत्या कर देगा। इसलिये तुम चुपचाप यहाँ से भाग जाओ। बस, इतनी दया करना कि मेरी बेटी, अपनी प्रिया, सुन्दरी को मन से बिसार मत देना।'

सुन्दरी की माता ने श्रीदत्त के बन्धन खोल दिये। उसका मृगांक खड्ग भी उसे सौंप दिया और श्रीदत्त सुन्दरी से बिदा लेकर उसी अँधेरी रात में बाहर निकल गया।

सबसे पहले वह वहीं अटवी में पहुँचा जहाँ मृगांकवती को छोड़ आगा था और जहाँ उसका घोड़ा मरा था।

वन में इधर-उधर भटकते किसी बहेलिया से उसकी भेंट हुई। श्रीदत्त ने उससे मृगांकवती के विषय में पूछा।

बहेलिया आँखें फाड़े थोड़ी देर श्रीदत्त की ओर देखता रहा। फिर अचानक पूछ बैठा—'क्या तुम्हारा नाम श्रीदत्त है?'

श्रीदत्त के 'हाँ' कहने पर बहेलिया बोला—'भला, अब मेरी बात सुनो। मैंने तुम्हारी पत्नी को क्रन्दन करते और घबराकर इधर-उधर भटकते पाया था। दया के वशीभूत हो मैंने उससे पूछा तो सारी कहानी उसने मुझे रोते रोते सुनाई। उस अनाथ नारी को तब मैं अपनी बस्ती में ले गया। परन्तु बस्ती के तरुण पुलिन्दों के भय से उसे मैं अधिक समय तक अपने पास न रख सका। मथुरा के निकट नागस्थल ग्राम में एक बुड्ढा ब्राह्मण विश्वदत्त मेरा परम मित्र रहता है। उसी ब्राह्मण के पास धरोहर के रूप में तुम्हारी पत्नी को मैं रख आया हूँ। उसी के मुख से तुम्हारा नाम जानकर बराबर यहाँ तुम्हारी खोज करता रहा हूँ। इसलिये भाई, अब तुम फ़ौरन ही नागस्थल की ओर चले जाओ।'

श्रीदत्त भागा-भागा दूसरे दिन सूरज डूबते-डूबते नागस्थल ग्राम में जा पहुँचा। उसने विश्वदत्त का घर ढूँढ़ लिया और तत्काल अपनी पत्नी के लिये याचना करने लगा।

ब्राह्मण विश्वदत्त ने शान्तभाव से बतलाया---'मथुरा में मेरा एक ब्राह्मण सखा है, जो महान् गुणी है, विद्वान् है और राजा शूरसेन का मंत्री है। बात यह है बेटा, कि यह गाँव कोई सुरक्षित जगह नहीं है। यहाँ हज़ार तरह के भय रहते हैं। इसलिये मैंने तुम्हारी गृहिणी को उसी ब्राह्मण के यहाँ पहुँचा दिया है। अभी तुम रात को यहीं विश्राम करो, सूर्योदय होने पर मथुरा चले जाना।'

राम-राम करके वह रात श्रीदत्त ने किसी तरह बिताई। दिन निकलते ही उसने यात्रा शुरू कर दी और अगले दिन मथुरा पहुँच गया।

इतना लम्बा रास्ता पैदल चलकर वह सिर से पाँव तक धूलि-धूसरित हो गया था। इसलिये नगर के बाहर ही एक बावड़ी के निर्मल जल में उसने स्नान सम्पन्न किया।

वहीं बावड़ी के पानी में एक छोटी-सी पोटली उसे पड़ी मिली। खोल कर देखने लगा तो एक बहुमूल्य मोतियों का हार दिखाई दिया। उस हार को उसी कपड़े में बाँध कर अपनी प्रिया को देखने के लिये विह्वल श्रीदत्त ने मथुरापुरी में प्रवेश किया।

नगर-रक्षकों ने उसके हाथ में वह छोटी-सी पोटली देखी तो फ़ौरन उसे पकड़ लिया।

वास्तव में उस हार को किसी चोर ने ही चोरी करके कपड़े में बाँध कर बावड़ी में छिपा दिया था। कपड़े की पहिचान से ही नगर-रक्षकों ने वह चोरी पकड़ ली थी।

श्रीदत्त को ही हार का असली चोर समझ कर वे लोग उसे कोतवाल के पास ले गये। कोतवाल ने उसे राजा के सामने उपस्थित कर दिया। राजा ने वह हार देखकर तत्काल श्रीदत्त के वध का आदेश दे दिया।

जब अधिक लोग ढोल पीटते हुये और चोर बने श्रीदत्त के अपराध की घोषणा करते हुये राजमार्ग से जाने लगे तब कौतूहलवश मृगांकवती छज्जे पर आकर सामने से गुज़रते उस अपराधी को देखने लगी।

पलभर में अपने पति को पहिचान कर घबरायी-घबरायी और गिरती-पड़ती मृगांकवती मंत्री के चरणों पर जा पड़ी, जिसके यहाँ वह रह रही थी। फिर

टूटी-फूटी वाणी में रो-रोकर कहने लगी—'पिता, मेरे पति की रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ! वह निश्चय ही निरपराध है। वह चोर नहीं है। मेरे ऊपर दया कीजिये पिता !'

मन्त्री ने बाहर आकर उन वधिकों को रोका और अपराधी को लिये-दिये राजा के पास आया। सारी घटना राजा को सुनाई। श्रीदत्त का अपराध क्षमा करवाया और उसे अपने साथ घर ले आया।

वस्तुतः वह मन्त्री कोई अन्य नहीं अपितु श्रीदत्त का चाचा ही था। वही विगतभय, जो घर छोड़ कर देशान्तर को चला गया था। अपनी विद्वत्ता और योग्यता से वह यहाँ मथुरा में मन्त्री पद पा गया था।

श्रीदत्त को धीरे-धीरे इस बात का जब पता लगा तो उसने श्रद्धातिरेक से अपने मन्त्री चाचा के चरणों पर मस्तक रख दिया। विगतभय को भी जब यह पता चला कि यह मेरे सहोदर भाई का पुत्र है, तो स्नेह से विह्वल होकर उसने श्रीदत्त को हृदय से लगा लिया। फिर सारा समाचार उससे पूछता रहा।

अथ से लेकर इति तक अपनी पूरी कहानी श्रीदत्त उसे सुना गया। अपने भाई कालनेमि और भावज का पापी विक्रमशक्ति के द्वारा वध करा दिये जाने की बात सुनकर मन्त्री विगतभय घटों आँसू बहाता रहा। श्रीदत्त भी उसके पास बैठा रोता रहा।

धृतिशाली चाचा ने अपने आँसू पोंछ कर श्रीदत्त की पीठ पर हाथ फेर कर उसे चुप कराया। फिर ममता भरे शब्दों में कहने लगा—'बेटा, तुम जानते हो, मैं एकाकी हूँ। अपार सम्पत्ति मैंने अर्जित की है। इस सारे धन-वैभव के अब एकमात्र तुम्हीं अधिकारी हो। इसलिये अब किसी प्रकार की कोई चिन्ता मत करो। प्रभु सब भला करेंगे।'

चाचा ने विद्वान् पुरोहितों को बुलवा कर विधिपूर्वक अपने भतीजे श्रीदत्त का मृगांकवती के साथ विवाह सम्पन्न करा दिया और वे दोनों दम्पति सुखपूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे।

सब कुछ मिल गया था, फिर भी श्रीदत्त को अपने मित्रों की चिन्ता बराबर

बनी रही। जैसे चन्द्रमा के बीच काली कलंक-रेखा रहती है, यही हाल श्रीदत्त के आनन्द भरे हृदय का उस चिन्ता से हो रहा था।

एक दिन बातों-बातों में ही चाचा विगतभय ने श्रीदत्त से एकान्त में कहा—'बेटा, इस राजा शूरसेन की एक कन्या है। उसने मुझे आज्ञा दी है कि मैं उस कन्या को अवन्ति देश पहुँचा दूँ और वहाँ के राजा को उसे समर्पित कर दूँ। मेरे मन में यह विचार आता रहा है कि वह कन्या तुम्हें मिलनी चाहिये। क्योंकि भगवती लक्ष्मी ने तुम्हारे लिये यह आशीर्वाद दिया है कि तुम एक दिन राजाधिराज बनोगे। मुझे प्रतीत होता है कि सम्भवत: वह समय आ गया है।'

नियत समय पर थोड़ी सेना साथ लेकर राजपुत्री को अवन्ति देश पहुँचाने के लिये मन्त्री विगतभय चला तो श्रीदत्त भी उसके साथ हो लिया।

चलते-चलते जब वे लोग विंध्याटवी में पहुँचे तो अप्रत्याशित रूप से एक चोरों की सेना ने उन्हें चारो ओर से घेर लिया और बाणों की वर्षा होने लगी।

चोरों ने प्रहार से मूच्छित श्रीदत्त को बांध लिया। सैनिकों को मार भगाया और सारा धन बटोर कर अपनी बस्ती की ओर श्रीदत्त सहित चले गये।

उन्होंने बँधे हुए श्रीदत्त को चण्डिका के मन्दिर में बलि देने के लिये ला पटका। जहाँ घनन-घनन घण्टे बज रहे थे, मानो मृत्यु का आह्वान कर रहे हों।

थोड़ी देर बाद देवी-दर्शन के लिये पल्लीपति-पुत्री सुन्दरी अपने बालक के साथ वहाँ आई तो अपने पति श्रीदत्त को इस अवस्था में देख कर चकित रह गई। आनन्द में डूब कर उसने सारे दस्यु शबरों को वहाँ से हटा दिया। श्रीदत्त के बन्धन खोले और अपने घर ले आई।

शबराधिपति मर चुका था और कोई पुत्र न होने के कारण पुत्री सुन्दरी को ही समस्त पल्ली-राज्य दे गया था।

वहाँ रहते हुए श्रीदत्त ने चोरों से छीनी गई सारी सम्पत्ति, अपने चाचा, अपनी पूर्वपत्नी, अपना मृगांक खड्ग—सभी कुछ पा लिया। फिर वहीं राजा

शूरसेन की कन्या से उसने अपना विवाह भी कर लिया और उस पत्नी-राज्य का अधिपति हो गया।

इसके बाद उसने अपने दोनों श्वसुरों—राजा बिम्बकि और राजा शूरसेन के पास अपने दूत भेजे। वे दोनों राजा अपनी-अपनी सेनायें लेकर जब यहाँ आये तो सारी स्थिति को जान कर प्रसन्न हुए और श्रीदत्त को उन्होंने सहर्ष जामाता के रूप में स्वीकार कर लिया।

लम्बे समय से बिछुड़े साथी बाहुशाली आदि भी, जो अब स्वस्थ हो गये थे, समाचार पाकर उसके पास एकत्रित हो गये।

दोनों श्वसुरों की सहायता से श्रीदत्त ने अपने पिता की हत्या करने वाले उस पापी विक्रमशक्ति पर चढ़ाई कर दी और अपने क्रोधानल में उसकी आहुति दे दी।

इस प्रकार सागर पर्यन्त सारी पृथ्वी के साम्राज्य का अधिपति होकर अपनी प्रियतमाओं के साथ वह आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

आदमी पर कितनी विपदायें आती हैं, अपने प्रियजनों के साथ कितने वियोग हो जाते हैं, परन्तु धैर्यशाली और उदारचेता बुद्धिमान् व्यक्ति उन सारी आपदाओं को पार कर जाता है और अन्त में अपना कल्याण पा लेता है।

शिव और माधव की कथा

रत्नपुर में शिव और माधव नाम के दो धूर्त्त रहते थे। उन्होंने अपने जैसे अनेक धूर्त्तों को इकट्ठा करके एक मण्डली बना ली थी। धीरे-धीरे इस धूर्त्त मण्डली ने जब नगर के सारे धनिकों को एक बार ठग लिया तब कोई नया शिकार फांसने के लिये वे लोग परदेश चले।

पहले वे लोग सीधे उज्जयिनी नगरी में पहुँचे। वहाँ उन लोगों को पता लगा कि—राजपुरोहित शंकर स्वामी के पास बहुत धन जमा हो गया है।

ठगों ने निश्चय किया कि उसी से माल झटका जाय और उस धन से फिर मालव देश का पूरा आनन्द लिया जाय।

पता लगा था—कंजूस-मक्खीचूस शंकर स्वामी ने दक्षिणा में पाई स्वर्ण-मुद्राओं से सात हण्डे भर लिये हैं। और सुनते हैं, उसकी एक सुन्दरी कन्या भी है। ठगों ने सोचा—हो सका तो हम उस कन्या को भी शंकर स्वामी से झटक लेंगे।

उज्जयिनी में पहुँचे माधव ने अपने कुछ धूर्त्त साथियों को लेकर राजपुत्र का वेश धारण कर लिया और एक उपयुक्त जगह पर अपना डेरा डाल दिया।

उधर धूर्त्तराज शिव ब्रह्मचारी बन गया और एकाकी होकर शिप्रा नदी के किनारे एक मठ में उसने अपना अड्डा जमाया। उसने अपने चारो ओर मिट्टी का ढेर, भिक्षापात्र, दण्ड और मृगचर्म फैला लिये।

प्रतिदिन भोर में ही वह नदी के जल में डुबकी मारता। शरीर पर मिट्टी का लेप करता और भगवान् सूर्य की ओर मुख करके बैठ जाता। हाथ में कुश लेकर पद्मासन लगाकर घंटों झूठ-मूठ ही जप करता रहता।

फिर देव मन्दिर में जाकर पुष्पों से महाकालेश्वर की पूजा करता। फिर झूठ-मूठ ही पुनः जप करने बैठ जाता। दोपहर को मृगचर्म ओढ़कर नगरी में

भिक्षा के लिये जाता। प्रतिदिन नियम पूर्वक केवल तीन गृहस्थ ब्राह्मणों के यहाँ से भिक्षान्न लेता। मठ में लौट आकर भिक्षा के तीन हिस्से करता। एक भाग कौओं को देता। एक भाग मठ में आये किसी अभ्यागत को देता और एक भाग से अपना पेट भरता। थोड़ी देर विश्राम करता। फिर रुद्राक्ष माला लेकर उसी तरह झूठा जप करता रहता।

इस तरह से धीरे-धीरे शिव ने उस नगरी के निवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। एक महान् शान्त, तपस्वी के रूप में उसकी चारो ओर ख्याति फैल गई। लोग उसके पास आकर अपनी भक्ति प्रकट करने लगे।

दूसरी ओर राजपुत्र बना उसका मित्र माधव शिप्रा-स्नान के लिये अपने अनुचरों के साथ एक दिन वहाँ पहुँचा। सदा की तरह धूर्त्तराज शिव नदी तट पर आँखे मूँदे झूठा जप करता हुआ बैठा था। स्नान करके राजपुत्र बना माधव आगे बढ़ा और शिव के चरणों में लोट गया। फिर चारो ओर खड़ी जनता से कहने लगा—'ऐसा परम तपस्वी मैंने अपने जीवन में नहीं देखा। दसियों बार दसियों तीर्थों में गया हूँ, परन्तु इन ब्रह्मचारी जी जैसा वीतराग सन्त मुझे कहीं दृष्टिगोचर न हुआ।'

शिव का यह हाल था कि उसने राजपुत्र को देखकर भी अनदेखा कर दिया।

तपस्वी को भला किसी की स्तुति या निन्दा से क्या लेना-देना?

रात पड़ गई तो वे दोनों धूर्त्त अपने अड्डे पर इकट्ठे हुये। खूब खाया-पिया और फिर आगे की कार्यवाही के बारे में कुछ निश्चय करते रहे। एक प्रहर रात बीती तो शिव फिर अपने उसी मठ में लौट आया।

दूसरे दिन भोर होते ही माधव ने अपने एक धूर्त्त सहचर को एक धोती जोड़ा देकर पुरोहित शंकर स्वामी के पास भेजा। उसे यह समझा दिया कि तुम शंकर स्वामी से निवेदन करना कि दक्षिण से एक राजकुमार यहाँ पधारे हैं। अपने खानदान के लोगों से परेशान होकर ढेर सारा पैतृक धन लेकर वे यहाँ आये हैं। कुछ अन्य राजकुमार भी उनके साथ हैं। ये सब लोग यहाँ के राजा की सेवा में रहना चाहते हैं। राजकुमार माधव आपके दर्शन करना चाहते हैं।

—बस, इतना ही तुम्हें कहना है।

धूर्त साथी ने बड़ी विनय से राजपुरोहित शंकर स्वामी से अपनी बातें कहीं और वह धोती जोड़ा उन्हें अर्पित कर दिया।

लोभी शंकर स्वामी सुन्दर-सा धोती जोड़ा पाकर और यह समाचार सुनकर कि एक राजकुमार उसके दर्शनों को आ रहा है, बहुत-बहुत प्रसन्न हुआ।

अगले दिन माधव सचमुच राजपुरोहित के सामने आ खड़ा हुआ। स्वयं राजपुत्र का वेश बनाये और सेवकों का वेश बनाये अपने सहचरों के साथ वह शंकर स्वामी के सामने जा बैठा। इधर-उधर की थोड़ी-बहुत गपशप हुई और वे लोग लौट आये।

दूसरे दिन फिर एक धोती जोड़ा लेकर वही सन्देशवाहक शंकर स्वामी के पास पुनः पहुँचा। उसने निवेदन किया—'विप्रवर! हमारे स्वामी के पास धन की कोई कमी नहीं है। वे तो केवल अपने खानदान के लोगों से परेशान होकर यहाँ चले आये हैं और एक वीर क्षत्रिय के रूप में आपके अतिशय सज्जन राजा की सेवा में रहने का विचार कर रहे हैं। आप बस इतनी कृपा कीजिये कि राजा के पास तक हमारे स्वामी का समाचार पहुँचा दीजिये।'

उस दिन भी एक धोती जोड़ा पुरोहित के आगे उसने रख दिया।

लालची पुरोहित प्रचुर प्राप्ति की आशा से उछलता हुआ राजा के पास पहुँचा। राजकुमार वाली बात राजा को सुनाई। राजा तो प्रकृति से ही सज्जन था। उसने तत्काल राजकुमार से भेंट करने की स्वीकृति दे दी।

अगले दिन शंकर स्वामी माधव और उसके सहचरों को राजा के सम्मुख ले आया। माधव की राजपुत्र सरीखी सौम्य आकृति और सुन्दर वेश-भूषा देखकर राजा प्रभावित हो गया। उसने माधव को और उसके सहचरों को अपने यहाँ काम पर रखना स्वीकार कर लिया।

इस तरह राजा की सेवा में नियुक्त माधव और उसके साथी वहाँ दिन बिताने लगे और रात्रियों में ब्रह्मचारी शिव के साथ मन्त्रणा करते रहे।....

शंकर स्वामी ने एक दिन माधव से कहा—'तुम लोग मेरे घर पर क्यों नहीं

रहते ? ऐसे रद्दी-सद्दी मकान में क्यों पड़े हुये हो ? मेरे यहाँ तुम्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट न होगा। हर प्रकार की सुविधा तुम्हें वहाँ मिलेगी।'

वस्तुतः शंकर स्वामी का लक्ष्य यह था कि राजकुमार यदि उसके घर में रहेगा तो कुछ न कुछ प्राप्ति उसे होती ही रहेगी।

थोड़ी ना नू के बाद वे लोग शंकर स्वामी के निवास-स्थान पर जा टिके और वहाँ मज़े से रहने लगे।

तब एक दिन माधव ने क्या किया कि नकली मणि-माणिक्यों से भरा हुआ एक बड़ा-सा पात्र शंकर स्वामी को अपने कोश भण्डार में सुरक्षित रखने के लिये दे दिया। पात्र देने से पहले माधव ने एक-एक आभूषण को निकाल-निकाल कर बहाने-बहाने पुरोहित को दिखा दिया था। जैसे घास दिखा कर किसी पशु को आकर्षित करते हैं, चतुर माधव ने लोभी ब्राह्मण के साथ वही किया था।

फिर सोच-साच कर वहीं शंकर स्वामी के निवास स्थान पर माधव रोगी बन गया। उसने खाना-पीना एक तरह से छोड़ ही दिया। हर समय शैय्या पर लेटा रहने लगा। फिर एक दिन उस धूर्तराज ने पुरोहित को बुलाकर कराहते हुये कहा—'विप्रवर ! आप मेरी हालत देख ही रहे हैं। इस नश्वर शरीर का क्या ठिकाना ? इसलिये कृपा करके किसी उत्तम ब्राह्मण को बुला लीजिये जिसे मैं अपना यह सम्पूर्ण धन देकर निवृत्ति पाऊँ। जब जीवन ही जा रहा है तो धन को रखकर अब मैं भला क्या करूँगा ?'

पुरोहित ढूँढ़कर किसी परिचित ब्राह्मण को ले आया परन्तु माधव ने बहाना करके उसे ख़ाली हाथ ही लौटा दिया। तब उसका एक धूर्त साथी पुरोहित से कहने लगा—'अरे महाराज, यह आप किस ऐरे-गैरे ब्राह्मण को बुला लाये ? हमारे मालिक तो किसी असामान्य तपस्वी को ही दान देंगे। सुनिये, शिप्रा के किनारे एक तपोनिष्ठ ब्रह्मचारी शिव आजकल रह रहे हैं। आपने भी उनका नाम सुना होगा। उन्हीं को बुला लीजिये न !'

पुरोहित भागा-भागा ब्रह्मचारी शिव के पास पहुँचा। वह प्रभु के ध्यान में डूबा निश्चिन्त बैठा था। पुरोहित ने एक बार ब्रह्मचारी की प्रदक्षिणा की।

फिर हाथ जोड़कर विनीत भाव से बोला—'देव, यदि आप क्रोध न करें तो मैं कुछ निवेदन करूँ।'

ब्रह्मचारी ने बिना मुख खोले केवल इशारे से स्वीकृति दी। पुरोहित ने सुनाया कि कैसे एक दक्षिण का महाधनी राजकुमार रोग शैय्या पर पड़ा है और अपना अपार धन दान करने को इच्छुक है।

शिव ने मौन तोड़कर बड़े तटस्थ भाव से कहा—'मैं तो ब्रह्मचारी हूँ। केवल भिक्षान्न ग्रहण करता हूँ। धन का मेरे लिये भला क्या प्रयोजन ?'

पुरोहित ने आग्रह भरे स्वर में उसे समझाया—'भगवन्, ऐसा मत कहिये। धन का अपना महत्त्व है। धन से धर्म-अर्थ-काम त्रिवर्ग की सिद्धि होती है। धन से देवता, पितर और अतिथि—इन सबका सत्कार होता है। किसी गृही के लिये, जिसके सुत और दारा हैं, धन की दिन-रात आवश्यकता पड़ती है।'

ब्रह्मचारी शिव निरीह भाव से हँसकर कहने लगा—'भाई, मेरे सुत-दारा भला कहाँ हैं ? और न मैं किसी उल्टे-सीधे परिवार की कन्या से विवाह ही करने को उद्यत हूँ।

लोभी पुरोहित अवसर देख फौरन बोल उठा—'भगवन् ! मेरी रूपवती षोडशी कन्या है। मेरी इच्छा है, आप उसे पत्नी के रूप में स्वीकार कर लें। राजकुमार माधव जो कुछ देना चाहता है, उसे कृपा करके स्वीकार कर लीजिये। आपका वह धन मैं अपने पास सुरक्षित रख लूँगा। आप गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लीजिये।'

ब्रह्मचारी शिव ने अपनी गोटी बैठती देख धीर-भाव से कहा—'यदि आपका यही आग्रह है तो मैं आपकी बात स्वीकार कर लूँगा परन्तु यह आप अच्छी तरह से समझ लीजिये कि मैं धन-सम्पत्ति के मामले में बिलकुल कोरा हूँ। मैं तो केवल आपके कहने पर दान लेने को उद्यत हो रहा हूँ। धन का कैसे क्या उपयोग होगा, यह सब आप जानिये।'

पुरोहित ने फौरन सिर हिलाकर कहा—'आप इसकी कोई चिन्ता न करें। मैं सब ठीक कर लूँगा।'

वह मूढ़मति पुरोहित ब्रह्मचारी शिव को अपने घर ले आया और उसने अपनी कन्या का शिव के साथ 'चट मँगनी-पट-ब्याह' कर दिया।

अगले दिन फिर वह झूठ-मूठ रोगी बने माधव के आगे अपने जामाता शिव को ले आया। शिव को देखकर रोगी माधव कराहता हुआ अपने बिस्तर से उठा और शिव के चरणों पर अपना सिर रख दिया। पुरोहित को संकेत करके उसके कोशागार से वही नक़ली आभूषणों से भरा पात्र मँगवाया और बड़े विनय भाव से तपस्वी ब्राह्मण को समर्पित कर दिया।

शिव ने भी उस पात्र को स्वीकार करके तत्काल पुरोहित के हाथों सौंपते हुये कहा—'लीजिये, आप इसे सम्हालिये।'

पुरोहित प्रसन्न होता हुआ बोला—'तुम्हें चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं है। सब ठीक हो जायेगा।' और फौरन वह आभूषणों भरा पात्र अपने भण्डार में रख आया।

तपस्वी शिव ने रोगी राजकुमार को उसके सिर पर हाथ रख कर दीर्घायुष्य का आशीर्वाद दिया और फिर अपनी विवाहिता पत्नी के पास चला गया।

उसी दिन संध्या होते-होते दान की महिमा से रोगी माधव की दशा सुधरने लगी और वह प्रसन्नभाव से कहने लगा—'तपस्वी ब्राह्मण के आशीर्वाद का फल देखो! सुपात्र को दान देने से ही मेरे जीवन की रक्षा हुई है।'...

दिन बीतते गये तो एक दिन जामाता शिव ने अपने श्वसुर पुरोहित से कहा—'इस तरह मैं कबतक आपकी रोटियाँ तोड़ता रहूँगा? अच्छा नहीं लगता। आप ऐसा कीजिये कि दान मिले उन रत्नाभूषणों का मूल्य आँक कर मुझे मुद्राओं के रूप में जो उचित समझें, दे दीजिये।'

पुरोहित ने मन ही मन सोचा—रत्नाभूषण तो बहुमूल्य हैं। सौदा बहुत अच्छा है। उसने झटपट शिव के आगे दो हज़ार स्वर्णमुद्रायें गिन दीं। आपस में इस लेन-देन की विधिवत् लिखापढ़ी भी हो गई। दोनों व्यक्तियों ने उस पत्र पर अपने-अपने हस्ताक्षर भी कर दिये कि मैंने इतना दिया—मैंने इतना लिया।

पुरोहित अतिशय प्रसन्न था कि मैंने जितनी स्वर्णमुद्रायें दी हैं, उनसे दूने-तिगुने मूल्य के रत्नाभूषण रख लिये हैं। इसके बाद शिव ने पत्नी के साथ अपना अलग घर बसा लिया और उसी घर में फिर अपने सहचरों को लिये-दिये माधव भी आ बसा। पुरोहित की दी हुई दो हज़ार स्वर्णमुद्राओं से उन सबका बड़े मज़े से जीवन-निर्वाह होने लगा।

थोड़ा समय और बीत गया। पुरोहित को परिस्थिति वश एक दिन नक़द धन की आवश्यकता आ पड़ी। उसने उसी दान वाले पात्र से एक रत्नाभूषण निकाला और उसे बेंचने किसी जौहरी की दूकान पर जा पहुँचा। जौहरी उस रत्नाभूषण को हाथ में लेकर बड़े ध्यान से थोड़ी देर देखता रहा। फिर तनिक-सा हँस कर बोला—'महाराज, यह किसकी कला है? यह तो तरह-तरह के रंगों से रँगे हुये काँच के टुकड़े हैं। इस आभूषण में न तो एक भी असली रत्न है और न तो यह स्वर्ण ही है। काँच और पीतल से बना यह आभूषण आप कहाँ से ले आये?'

घबराया-घबराया पुरोहित घर लौटा। पात्र के अवशिष्ट रत्नाभूषण बाँध कर फिर जौहरी के पास उन्हें दिखलाने जा पहुँचा। जौहरी ने एक-एक रत्नाभूषण को परख कर अन्त में उसी तरह मुसकरा कर कहा—'महाराज, ये सारे आभूषण बिलकुल नक़ली हैं।'

घड़ी भर पुरोहित शंकर स्वामी वज्राहत-सा होकर बैठा रहा। फिर वह सीधा भागा-भागा शिव के पास पहुँचा और कहने लगा—'लो, ये सब रत्नाभूषण अपने पास रखो और मेरी दो हज़ार स्वर्णमुद्रायें मुझे वापस करो।'

हँस कर शिव ने जवाब दिया—'मेरे पास अब स्वर्णमुद्रायें कहाँ रखी हैं? घर-गृहस्थी में सब ख़र्च हो गया।'

तब वे दोनों, जामाता और श्वसुर, परस्पर झगड़ने लगे। माधव पास बैठा उनका यह झगड़ा देखता रहा। उसी की सम्मति पर फिर वे दोनों माधव को साथ लिये राजा के पास गये।

वहाँ पुरोहित ने हाथ जोड़कर राजा से निवेदन किया—'प्रभु, इस आदमी ने

काँच के नक़ली रत्नों के आभूषण मुझे देकर दो हज़ार स्वर्णमुद्रायें ले ली हैं। इसने मुझे बहुत भारी धोखा दिया है। मेरे साथ आप न्याय कीजिये।'

राजा शिव की ओर देखने लगे तो शिव ने दृढ़ स्वर में कहा—'महाराज, यह व्यक्ति मुझे नदी के किनारे से बुला कर लाया था। इस दूसरे व्यक्ति ने वे रत्नाभूषण मुझे दान दिये थे। वे रत्नाभूषण मैंने हाथ के हाथ इसी पुरोहित को सौंप दिये थे। पीछे उन रत्नाभूषणों का मूल्य जो कुछ इसने दिया, बिना चूँ-चाँ किये मैंने ले लिया। इस लेन-देन की सारी कार्यवाही पत्र पर अंकित है। हम दोनों के हस्ताक्षर भी हैं। यह देखिये!' और उसने वह पत्र महाराज के सामने रख दिया।

तब माधव बोला—'महाराज, इस तरह तो मैं ही अपराधी सिद्ध हो रहा हूँ। परन्तु ज़रा इस पुरोहित ब्राह्मण से पूछिये कि इससे मैंने अपना क्या स्वार्थ सिद्ध किया है? और इससे क्या ले लिया है? और इन तपस्वी महाशय से भी पूछिये कि आशीर्वाद के अतिरिक्त और इन्होंने मुझे क्या दिया है?

प्रभु, मैंने अपना पैतृक धन इस पुरोहित के पास धरोहर के रूप में रख दिया था। यह कहता है कि वह सोना नहीं पीतल है और रत्न नहीं काँच के टुकड़े हैं। मैंने शुद्ध हृदय से उन रत्नाभूषणों का दान किया था, जिसके फल-स्वरूप मेरी रोग-निवृत्ति भी हो गई। वे रत्नाभूषण यदि सचमुच नकली होते तो मैं उस दान का फल भला कैसे क्या पाता?'

मुख पर किसी भी भाव की छाया लाये बिना अपनी बात कहने वाले माधव के कथन पर राजा और मंत्री लोग एक साथ हँस पड़े और कहने लगे—'नहीं भाई, तुम तो सर्वथा निर्दोष हो। तुम्हारा भला इसमें क्या अपराध है? और न हमें यह तपस्वी ब्राह्मण ही दोषी जान पड़ता है। यह तो कुछ इन्हीं पुरोहितजी महाराज की कारस्तानी हुई है। इन्होंने कैसे क्या किया है, यह तो भगवान् ही जानते होंगे!'

हर तरह से बुद्धू बना पुरोहित शंकर स्वामी लज्जित होकर सिर झुकाये राजसभा से उठ आया।

वे दोनों धूर्त शिव और माधव और उनके संगी-साथी, राजा की सज्जनता और सच्चरित्रता से अत्यधिक प्रभावित हुये थे। अपने छल-कपट भरे जीवन से उन्हें अब अरुचि-सी होने लगी थी। बहुत धूर्त्तता कर ली, बहुत ठगा लोगों को। परन्तु अब बस!

परस्पर सोच-विचार के उपरान्त उन लोगों ने अपनी जीवन-पद्धति बदल डाली। पिछला सब भूल कर अन्य दस भले आदमियों की तरह, उसी राजा के यहाँ जीविका प्राप्त करके सुख-चैन से रहने लगे।

पुरोहित शंकर स्वामी की तरह लोभ से अन्धे हुये आदमी पर यदि आपदायें आती हैं, तो इसमें अपराध किसका है?

———

पिंगलिका की कथा

वत्सदेश के स्वामी वत्सराज एक दिन जब अपने राज-दरबार में बैठे हुये थे, अचानक द्वारपाल ने सम्मुख आकर निवेदन किया—'प्रभु, एक दीन ब्राह्मणी अपने दो शिशुओं को साथ लिये, आपके दर्शन की कामना से, द्वार पर खड़ी है।'

राजा ने तुरन्त आज्ञा दी और द्वारपाल ने तत्काल एक दुबली-पतली मलिन-वसना ब्राह्मणी को राजदरबार में उपस्थित कर दिया।

तब दोनों शिशुओं को गोद में लिये खड़ी, दैन्य एवं दुख में डूबी वह ब्राह्मणी राजा को प्रणाम करके करुण स्वर में कहने लगी—'महाराज, मैं एक कुलीन वंश की नारी हूँ। दुर्भाग्य और परिस्थिति वश ऐसी विपन्नावस्था में आ गई हूँ। इन दोनों जुड़वाँ बच्चों के जन्म के बाद मेरा संकट और भी बढ़ गया है। स्वयं मेरे भोजन का ही ठिकाना नहीं है, इन अभागों को मैं दूध कहाँ से पिलाऊँ?

इसलिये शरण में आये हुये पर दया की वर्षा करने वाले आपके चरणों में उपस्थित हुई हूँ। मुझ दुखिया पर अपनी कृपादृष्टि कीजिये महाराज!'

दयालु वत्सराज ने अविलम्ब द्वारपाल को आदेश दिया—'इस ब्राह्मणी को रानी वासवदत्ता के पास पहुँचा दो।'

स्वयं महाराज ने इसे मेरे पास भेजा है—द्वारपाल से यह बात जानकर रानी वासवदत्ता ने उस दुखिया नारी को अत्यन्त आदर और प्यार से अपने आश्रय में ले लिया।

दासियों को ब्राह्मणी के स्नानादि कराने की आज्ञा देकर रानी स्वयं स्नानागार में प्रविष्ट हुई तो मन ही मन कह उठी—'विधि का यह कैसा विपरीत आचरण है कि—उपयुक्त से ही उसे द्वेष है और अनुपयुक्त से ही उसे राग है! मुझे आज तक सन्तान का मुख देखना नसीब न हुआ और यह एक अभागिन दो बच्चों की माँ बन गई! प्रभु जाने कब मुझे यह सौभाग्य प्रदान करेंगे?'

उधर स्नानोपरान्त नवीन स्वच्छ वस्त्र और स्वादिष्ट मधुर भोजन पाकर

सन्तुष्ट हुई ब्राह्मणी इस प्रकार साँसें लेने लगी जैसे कहीं कोई सन्तप्त भूमि जल-सिंचन के बाद सोंधी-सोंधी सुगन्ध छोड़ने लगती है।

रानी वासवदत्ता ने थोड़ी देर बाद अपने विश्राम-कक्ष में उस नवागता ब्राह्मणी को बुला भेजा।

ब्राह्मणी ने रानी के सम्मुख बैठते ही स्वतः शान्त स्वर में कहना शुरू कर दिया—'महारानी, सद्वंश (बाँस) में उत्पन्न किसी मोती के समान, सद्वंश (कुल) में उत्पन्न नारी शोभन-चरित्र और स्वच्छ हृदय वाली होती है—दया और ममता से ओत-प्रोत, परन्तु ऐसी नारियाँ तो इनी-गिनी ही होती हैं, जो इस विशाल विश्व को विभूषित करती हैं।

'और राजलक्ष्मी होती है किसी चंचल हरिणी के समान, जो सदा उछल-कूद करती रहती है। धीरज के पाश से जो उसे बाँधना जानता है, वही व्यक्ति वस्तुतः बुद्धिमान् है। इसलिये जिसे कल्याण की कामना हो, उसे धीरज कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

महारानी, मैंने भी घोर विपदा की स्थिति में धैर्य रक्खा है और अपने चरित्र की रक्षा की है। उसी का यह सुफल मुझे मिला है कि आज आपके दर्शन पा रही हूँ।'

ब्राह्मणी की इन बातों को सुन कर रानी वासवदत्ता ने मन ही मन कहा—'निश्चय ही यह नारी किसी उच्च कुल में जन्मी है। इसकी यह मधुर और संयत वाणी, अपने व्यक्तित्व को प्रकट करने का यह अद्भुत प्रकार और सौम्य-शान्त मूर्ति—ये सब कह रहे हैं कि उदारता, चतुरता और उच्चता सरीखे सभी गुणों से मंडित यह नारी प्यार करने के योग्य है।'

स्नेह से शराबोर हुई रानी ने छूटते ही पूछा—'सखी, तुम किस सत्पुरुष की अर्धांङ्गनी हो और ऐसी विषम परिस्थिति में कैसे आ पड़ीं, सो सब मुझे बतलाओ।'

तब ब्राह्मणी धीर स्वर में सुनाने लगी—'महारानी, मालव देश में अग्निदत्त नाम के एक ब्राह्मण रहते थे। वे एक साथ सरस्वती और लक्ष्मी दोनों के ही आश्रय थे और याचकों को स्वयं धन का दान करते रहते थे।

ठीक उन्हीं के अनुरूप क्रमशः उनके दो सुत उत्पन्न हुये। जिनमें बड़ा पुत्र था शंकरदत्त और छोटा था शान्तिकर। छोटे पुत्र शान्तिकर ने विद्या-अर्जन हेतु बचपन में ही घर छोड़ दिया और जाने कहाँ चला गया।

परन्तु बड़ा पुत्र शंकरदत्त विवाहित होकर घर सम्हालने लगा। उसी शंकरदत्त की भार्या मैं हूँ और पुत्री हूँ विप्रश्रेष्ठ यज्ञदत्त की, जिन्होंने यज्ञ-याग के लिये ही प्रचुर सम्पत्ति अर्जित की थी।

कालक्रम से मेरे श्वसुर अग्निशर्मा वृद्धावस्था को प्राप्त करके परलोक सिधार गये और मेरी सास उन्हीं के साथ सती हो गईं।

तब मेरे पति शंकरदत्त तीर्थ-यात्रा के बहाने मुझे अकेली छोड़ घर से चले गये। फिर पितृशोक से विह्वल होकर उन्होंने कहीं सरस्वती नदी के प्रवाह में अपना शरीर समर्पित कर दिया।

उनके साथ गये अन्य तीर्थयात्रियों के द्वारा जब मुझे यह समाचार मिला, मैं गर्भवती थी। फलतः बन्धु-बान्धवों ने मुझे सती होने की आज्ञा नहीं दी। विवश-निरुपाय मैं अकेली आकुल-व्याकुल होकर तड़पती रही।

इस प्रकार जब मैं पति-शोक में डूबी थी, अचानक ही लुटेरों ने हमारे गाँव पर आक्रमण कर दिया। भयभीत होकर मैं अपने चरित्र की रक्षा के लिये थोड़े से वस्त्र ले कर अन्य तीन ब्राह्मण बन्धुओं के साथ अपने गाँव से, अपने घर से भाग आई।

सदा-सदा के लिये अपना घर छूटा-आश्रय छूटा। निराश्रिता होकर भटकती मैं दूर परदेश में आ पहुँची और उन तीन ब्राह्मणियों के साथ कठोर परिश्रम करके किसी प्रकार जीवन-यापन करने लगी।

वहीं रहते हुये मैंने लोगों से सुना—वत्स देश के राजा अनाथों के रक्षक हैं, तो मैं एक मात्र अपने चरित्र-बल के सहारे लम्बी यात्रा पूरी करके यहाँ आप के राज्य में चली आई। यहाँ आते ही इन दोनों जुड़वाँ बालकों को मैंने जन्म दिया। उस विषम स्थिति में मेरी उन तीन सहयोगिनियों ने ही मुझे सम्हाला।

आप सोचिये तो उस समय मेरी क्या स्थिति हो गई थी ! एक तो पति का शोक, उस पर अनजाने देश में कौड़ी-कौड़ी को मुहताज, उसके ऊपर दो बालकों का एक साथ प्रसव ! लगता था, भाग्य-देवता ने मेरी विपदाओं के सारे दरवाज़े मानो एक साथ ही खोल दिये हों।

इन अभागे शिशुओं के पालन-पोषण के लिये नितान्त असहाय-निरुपाय बनी मैं अन्य कोई राह न पाकर, नारी की एकमात्र आभूषण लज्जा को तिलांजलि देकर, भरे दरबार में आपके पति महाराज वत्सराज के सम्मुख जा खड़ी हुई और आँखें मूँद कर अपनी दुख-दर्द भरी गाथा उन्हें सुना दी। अपनी आँखों के सामने अपनी सन्तान को भूख-प्यास से बिलखता देख कौन नारी सहन कर पायेगी भला ! उसके संयम का बाँध निश्चय ही टूट-फूट जायेगा।

मेरे ऊपर-मेरे बालकों के ऊपर करुणा से द्रवीभूत हुये महाराज की दया से ही मैं आपके चरणों में आश्रय पा सकी हूँ। अब लगता है, मेरी सारी विपदायें मानो इस राजद्वार से टकरा कर पीछे लौट गईं।

रानी वासवदत्ता, यही मेरी कहानी है। मेरा नाम पिंगलिका है। बाल्यावस्था में यज्ञ के धूम से मेरी आँखें पीली हो गई थीं, इसीलिये पिता ने मेरा नाम पिंगलिका रख दिया।

नहीं जानती, परदेश गया मेरा देवर शान्तिकर अब तक जीवित है या नहीं। यदि जीवित है तो किस देश में, किस नगर में, कहाँ वह रह रहा है—मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं।'

पिंगलिका की यह दर्द भरी और दुखों भरी कहानी सुनकर रानी वासवदत्ता का हृदय करुणा से पसीज गया। स्नेह-भरी वाणी से वह पिंगलिका से कहने लगी—'सखी, हमारा एक पुरोहित है, जिसका नाम शान्तिकर है और वह इस देश का नहीं है, यह भी प्रसिद्ध है। मुझे लगता है, हो न हो वह तुम्हारा देवर ही है। जाओ, अपने बच्चों के साथ अब तुम चैन से आराम करो। कल सबेरा होते ही मैं पुरोहित शान्तिकर को बुलवा कर वास्तविकता का पता लगाती हूँ।'...

अगले दिन सूर्योदय होते ही अन्तःपुर की एक दासी गई और पुरोहित को साथ ले आई।

रानी वासवदत्ता ने भारी उत्कण्ठा में डूबकर पुरोहित से उसके देश, गाँव और कुल-गोत्र की बात पूछी।

गम्भीर प्रकृति वाले पुरोहित शान्तिकर ने धीरे-धीरे अपना पूरा परिचय सुना दिया। उसे सुनते ही आश्चर्य और हर्ष से उत्फुल्ल हुई रानी ने तत्काल प्रसन्न भाव से कहा—'सुनिये, यह जो सामने बैठी है, यह आपकी भाभी है।'

अचरज भरी दृष्टि से पिंगलिका को निहारता शान्तिकर दो-तीन क्षण स्तब्ध बैठा रहा। पिंगलिका को पहिचान लेकर फिर वह तडित्वेग से उठा, भाभी का चरण-स्पर्श किया और सजल आँखें लिये अपने परिवार का कुशल समाचार पूछने लगा।

नयनों से टप-टप आँसू गिराती पिंगलिका ने गद्गद कण्ठ से धीरे-धीरे सब सुनाया।

माता-पिता की मृत्यु और बड़े भाई का प्राणत्याग और भाभी का निराश्रित होकर दर-दर भटकना—शान्तिकर दोनों हाथों से अपना मुख ढाँप कर निःशब्द रुदन करने लगा। तब पिंगलिका ने आगे बढ़कर स्वयं आँसू बहाते अपने अंचल से देवर के आँसू पोछे।

इस करुण दृश्य से रानी के नयन भी गीले हो गये। उसने उन दोनों-देवर-भाभी को धीरज बँधाया।...

पुरोहित शान्तिकर उसी दिन अपनी भाभी पिंगलिका और दोनों भतीजों को अपने निवास-स्थान पर ले आया। फिर वे चारो प्राणी सुख-शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

रानी वासवदत्ता ने पिंगलिका को अपनी अन्तरंग सहेली बना लिया। उन दोनों नारियों के बीच उच्च-नीच की भावना जाती रही और समान स्तर पर व्यवहार होने लगा।

रानी जैसे पिंगलिका को बहुत-बहुत स्नेह करने लगी थी, उसी तरह उन

दोनों बालकों पर भी रानी का भारी मोह भाव हो गया था। रानी ने ही दोनों के नाम रक्खे—बड़े का शान्तिसोम और छोटे का वानर।

बालकों के समुचित पोषण के लिये रानी वासवदत्ता ने, पिंगलिका के 'ना-ना' करने पर भी, प्रचुर धन दे दिया।

किसी अन्धे-के समान प्राणी के आगे-आगे दौड़ने वाला और कर्मों के माध्यम से प्राणी को फल की ओर खींचने वाला एकमात्र भाग्य ही होता है। पुरुषार्थ स्वयं क्या है, पुरुषार्थ तो समझो एक निमित्तमात्र होता है।

अन्यथा पिंगलिका, उसके दोनों बालक और देवर शान्तिकर—ये सब कैसे इधर-उधर से आकर परस्पर मिल गये और उनके सम्पूर्ण दुखों का—अभावों का अनायास ही अवसान हो गया।...

इस प्रकार जब आनन्द से सब का समय बीत रहा था, एक दिन एक साधारण-सी घटना घटी।

रानी वासवदत्ता ने सखी पिंगलिका को उसके घर से बुला लिया था और राजप्रासाद की ऊपरी मंज़िल में झरोखे के पास बैठी प्रसन्न भाव से गपशप कर रही थी कि—कोई एक कुम्हारिन छोटे-छोटे अपने पाँच बेटों को साथ लिये, मिट्टी के बरतन बेंचने, राजद्वार पर आई।

अनजाने ही रानी वासवदत्ता की दृष्टि उधर चली गई। झरोखे से नीचे द्वार की ओर झाँकती रानी ने अपनी बात अधूरी ही छोड़ दी और अपलक होकर उस दृश्य को देखने लगी।

रानी को इसी अवस्था में अविचल देख पिंगलिका को भी कौतूहल हुआ कि—ऐसा क्या है नीचे, जो वासवदत्ता यों बँध गई है?

उसने एक बार उठकर नीचे झाँका, फिर वह अपने स्थान पर जा बैठी। थोड़ी देर बाद रानी ने भी अपना मुख इधर घुमा लिया। पिंगलिका ने परिलक्षित किया—वासवदत्ता के सुन्दर मुख पर उदासी की छाया घिर आई है।

वह कुछ पूछती, इसके पूर्व ही लम्बी उँसास लेकर रानी कहने लगी दुख में डूबकर—'सखी पिंगलिका, भगवान् की माया देखो, नीचे खड़ी उस कुम्हारिन

के पाँच-पाँच बेटे हैं और एक मैं हूँ, मुझे भगवान् ने अभी तक एक भी बालक न दिया ! वह जाने कितनी पुण्यशालिनी है ! दरिद्र है तो क्या हुआ, मेरी तरह निपूती तो नहीं है !'—कहते-कहते रानी के नयन गीले हो उठे। उसने किसी अपराधिनी की तरह सिर नत कर लिया और मौन हो गई।

अपनी प्रिय सखी के मन का भाव जान कर पिंगलिका दुखी हुई। तनिक देर चुप रही, फिर उसने स्नेहसिक्त वाणी से हौले-हौले कहा—'वासवदत्ता, सखी मेरी, तुमने अभी जो कहा, वह सही नहीं है। पाप के फलस्वरूप ही किसी को अधिक सन्तान होती है। अधिक सन्तान सदा कष्ट देती है। अधिक सन्तान दरिद्रों को ही होती है।

'तुम्हारी सरीखी कुलीन नारी के तो एक-दो सन्तान ही होती है। वही श्लाघनीय होती है। वही जीवन की सार्थकता देने वाली होती है।

'नीचे खड़ी कुम्हारिन तुम्हें भाग्यशालिनी लगी है। परन्तु मैं पूछती हूँ, पाँच पुत्रों को जन्म देकर उसने किसका भला किया है ? स्वयं तो उनके पालन-पोषण का कष्ट उठा ही रही है, वे बालक भी उचित अन्न-वस्त्र के अभाव में कष्टों भरा जीवन जी रहे हैं। यह तो हुई दरिद्र की बात, मान लो यह नारी किसी समृद्ध परिवार की होती और इतनी ही सन्तान इसकी होती, तब ? तब भी कोई सुन्दर बात नहीं होती रानी ! वे लड़के बड़े होकर या तो कुपथगामी हो जाते, या फिर सम्पत्ति के लिये परस्पर कलह करते और एक-दूसरे के जानी दुश्मन बन जाते।

'वास्तविकता यह है कि—अधिक सन्तान वाला व्यक्ति न तो ठीक तरह से बच्चों को खिला-पिला पाता है और न उनकी शिक्ष-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध ही कर पाता है। उल्टे-सीधे ढंग से पले ऐसे बालक बड़े होकर प्रायः कुसंस्कारी बन जाते हैं और समाज के लिये 'कंटक' सिद्ध होते हैं।

माता-पिता से घृणा करने वाले वे लड़के अक्सर कहा करते हैं—'तुम्हारी इतनी सामर्थ्य ही नहीं थी तो तुमने हमें पैदा क्यों किया ?'

'मैं तुम्हें अपना ही उदाहरण देती हूँ। मान लो, मेरे इन दो बालकों को

जगह यदि दस बालक होते, तब मेरी कैसी दुर्गति होती ! केवल दो ही हैं, तो उनकी अच्छी तरह पालना भी कर पा रही हूँ और उचित शिक्षा भी दे रही हूँ।

'तुमने सुना नहीं रानी वासवदत्ता ?—सिंहनी हमेशा एक-दो सिंह-शावकों को ही जन्म देती है। बहुत-से पिल्ले तो केवल कुतिया के होते हैं।'

सखी की बातों से थोड़ी आश्वस्त हुई वासवदत्ता ने शान्तभाव से पूछा—'तुम ठीक कहती हो पिंगलिका, अधिक सन्तान होना—श्रेयस्कर नहीं होता, परन्तु सखी, नारी का 'निपूती' रह जाना भी तो शुभ नहीं होता। यह तो समझो, किसी हरे-भरे तरु पर फल न आने के समान, सभी की आँखों में खटकने वाली बात हो जाती है।

ठीक है, मुझे नहीं चाहिये अधिक सन्तान, एक पुत्र से ही मैं परम सन्तुष्टि पा लूंगी।

बोलो पिंगलिका ! बोलो सखी, तुम्हारा हृदय क्या कहता है ? तुम मेरी अतिशय अन्तरंग, प्राणों के निकट हुई बान्धवी हो, क्या मैं कभी 'पुत्रवती' नहीं होऊँगी ?'—कहते-कहते रानी का गला भर आया।

तब मोह से आच्छन्न पिंगलिका ने प्यार में डूब कर कहा—'रानी वासवदत्ता, मेरा दृढ़ विश्वास है, तुम्हारी गोद अवश्य भरेगी। जो पुण्यशालिनी अपने हृदय में इतनी ममता, इतना वात्सल्य लिये जी रही है, जो किसी भी बालक को देखकर स्नेह से आप्लावित हो उठती है—वह हरगिज़ 'बाँझ' होकर नहीं रहेगी।

हरे-भरे मनोरम पल्लवों से आच्छादित तरुवर पर एक दिन फल आयेगा ही-आयेगा ही।

'अपने पूरे आत्म-बल पर मैं तुम से कह रही हूँ सखी वासवदत्ता, भगवान् की करुणा तुम्हें मिलेगी। एकाग्र भाव से प्रभु की आराधना करो—इससे बड़ा और कोई सम्बल प्राणी के लिये नहीं होता।

'विश्वास करो रानी वासवदत्ता, मैं तुमसे कह रही हूँ, एक दिन तुम्हारा नारी-जन्म अवश्य सार्थक होगा—'पुत्रवती' बनोगी तुम।'

भावावेश से विह्वल हुई वासवदत्ता ने पिंगलिका को पास खींचकर अपने उफनते कलेजे से सटा लिया।

उसके दोनों नयन पिंगलिका के ऊपर धीरे-धीरे आँसू गिराते रहे।...

वत्सराज राजा उदयन और रानी वासवदत्ता ने कठोर व्रत धारण किया। सारी शक्ति से प्रभु की आराधना करते रहे।

प्राणों का बल लगाकर पुकारो तो उस पुकार को वे ज़रूर सुनते हैं, जो इस विश्व के एकमात्र स्वामी हैं।

अन्ततोगत्वा रानी वासवदत्ता अन्त:सत्वा हुई और समय पूरा होने पर उसने चाँद सरीखे सुत को जन्म दिया।

आगे चलकर वासवदत्ता का वही पुत्र दुनिया में 'नरवाहनदत्त' के नाम से विख्यात हुआ, जो विद्याधरों का चक्रवर्ती सम्राट् बना।

सचमुच, अधिक सन्तान होना—न तो माता-पिता के लिये हितकर है और न समाज के लिये। अधिक सन्तान वाले व्यक्ति देश के लिये भी भारी समस्या खड़ी कर देते हैं।

—सन्तान तो सीमित ही अच्छी लगती है।

———

गुणाढ्य की कथा

प्रतिष्ठान प्रदेश में, सुप्रतिष्ठित नामक नगर था, जहाँ सोमशर्मा नाम के कोई विद्वान् ब्राह्मण निवास करते थे।

उन सोमशर्मा के दो पुत्र हुये वत्स और गुल्मक; एक पुत्री भी हुई श्रुतार्था। जीवन की अवधि पूर्ण होने पर, सोमशर्मा और उनकी पत्नी स्वर्गवासी हो गये। लड़के साहसी थे। उन दोनों ने अपनी सामर्थ्य से घर सम्हाल लिया और छोटी बहिन का भरण-पोषण करने लगे।

समय बीतता गया। अकस्मात् ही दोनों भाइयों को पता चला कि श्रुतार्था गर्भवती हो गई है। वे दोनों बुरी तरह चिन्तित हो उठे।

बुद्धिमती श्रुतार्था ने भाइयों के मन का भाव जानकर स्वयं ही एक दिन स्पष्टीकरण कर दिया। उसने अपने भाइयों से धीर स्वर में कहा—'आप मेरे विषय में किसी प्रकार के पाप की आशंका मत कीजिये। जो वास्तविकता है उसे मैं बतला रही हूँ।

'नागराज वासुकि के भाई का पुत्र कुमार कीर्तिसेन, आपने भी उसका नाम सुना होगा, उसी कीर्तिसेन ने एक दिन मुझे स्नान करते गीले वस्त्रों में देख लिया था। विह्वल होकर उसने मुझे अपना परिचय दिया। मेरे आगे घुटने टेक दिये और दीन होकर मुझसे गान्धर्व विवाह के लिये प्रार्थना करने लगा। उसकी दयनीय अवस्था देख मैं फिर प्रत्याख्यान न कर सकी। अन्त में निरुपाय हो मैंने उसे पतिरूप में वरण कर लिया। उसी के द्वारा मैं अन्तःसत्वा हुई हूँ। आप लोग मेरा विश्वास कीजिये।'

'तुम्हारे इस कथन की सत्यता में प्रमाण क्या है?'—भाइयों ने अपना संशय प्रकट किया। श्रुतार्था मन ही मन बहुत खिन्न हुई। विवश होकर उसने कीर्तिसेन का आह्वान किया। कीर्तिसेन तत्काल उपस्थित हो गया। वत्स और गुल्मक के आगे उसने दृढ़ता से कहा—'मैंने तुम्हारी बहिन को पत्नी रूप में

स्वीकार कर लिया हैं। मैं कोई नीच कुलोत्पन्न अधम व्यक्ति नहीं हूँ। तुम्हारी बहिन अपराधिनी नहीं है। यह जिस पुत्र को जन्म देगी, वह मेरा ही अंश होगा और सयाना होने पर असाधारण व्यक्तित्वशाली सिद्ध होगा—यह भविष्यवाणी मैं किये जा रहा हूँ। नमस्कार बन्धुओं !'

वही हुआ, जो कीर्तिसेन कह गया था। श्रुतार्था ने जिस पुत्र को जन्म दिया था, आगे चलकर वही गुणाढ्य के नाम से विश्वविश्रुत हुआ।

युवा गुणाढ्य के विद्यावैभव और अलौकिक प्रतिभा की ख्याति सुनकर राजा सातवाहन ने उसे आमन्त्रित किया। राजा सातवाहन गुणाढ्य के व्यक्तित्व से इस क़दर प्रभावित हो उठे कि उन्होंने गुणाढ्य को अपनी राजसभा में मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

विद्वद्वरेण्य गुणाढ्य जितनी देर राजा के निकट बैठता, मन्त्री के कर्त्तव्य पालता। शेष सारा समय वह अपने शिष्यों को विद्यादान करके बिताता। यही उसकी दिनचर्या थी और यही उसका व्यसन था।

एक दिन अपने शिष्यों के साथ वह गोदावरी के किनारे टहल रहा था। वहाँ उसकी दृष्टि एक मनोरम उद्यान पर पड़ी। उद्यान की अनुपम शोभा से चकित होकर वह माली से पूछने लगा—'कहो भाई, इस उद्यान का क्या नाम है ? किसने इस सुन्दर उद्यान की रचना की है ?'

माली ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'पूज्यवर, इस उद्यान का नाम है—देवी उद्यान। अब इस उद्यान की रचना के बारे में सुनिये। अपने पूर्वजों से जो कुछ सुना है, वही आपको सुना रहा हूँ—

इस नगर में, कभी कोई तपस्वी ब्राह्मण आया था। उसी तपस्वी ने इस उद्यान की और बीच वाले देवी-मन्दिर की रचना यहाँ करवाई थी।

यह देवीमन्दिर बन गया और उद्यान तैयार हो गया, उस समय नगर के कुछ सम्भ्रान्त व्यक्ति कौतूहल से उस तपस्वी के निकट पहुँचे तो उसने उन्हें बतलाया—'नर्मदा तट पर एक प्रदेश है भरुकच्छ। मेरा जन्म वहीं हुआ था। अपने प्रारम्भिक जीवन में, मैं इतना आलसी और गया-गुजरा था कि कोई भला

आदमी मुझे भिक्षा देना भी पसन्द नहीं करता था। बड़ी बुरी स्थिति थी मेरी। अन्त में, अपने निकृष्ट जीवन से ऊब कर मैं वहाँ से चल दिया।

इधर-उधर तीर्थों मे भटकता-भटकता मैं भाग्य से विन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर में जा पहुँचा। वहाँ मैंने देखा कि--लोग पशुओं की बलि देकर भगवती को प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहे हैं।

मैंने अपने मन में सोचा--मैं महामूर्ख प्राणी हूँ। मेरा यह शरीर भी किसी पशु के सदृश ही है। तब फिर मैं देवी के चरणों में अपनी ही बलि क्यों न दे दूँ?

बस, मैं प्रतीक्षा करता रहा। धीरे-धीरे भीड़ छँटती गई। मन्दिर में सन्नाटा हो गया। झट से मैंने वहाँ रक्खा खड्ग उठा लिया। भगवती के चरणों में सिर झुकाकर अपने ही हाथों अपनी गरदन पर प्रहार करने को उद्यत हुआ कि सहसा माता विन्ध्यवासिनी की स्नेहसिक्त वाणी सुन पड़ी। भगवती मुझे आशीर्वाद दे रही थीं--'वत्स, आत्मवध से विरत हो जाओ। मेरा आशीर्वाद है--आज से तुम सिद्ध पुरुष होकर जीवित रहोगे और लोक-कल्याण ही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य होगा। सांसारिक शोक-ताप और अभाव तुम्हें व्यथित नहीं करेंगे। नीचे पड़े ये बीज उठा लो। प्रतिष्ठान प्रदेश चले जाओ। वहाँ गोदावरी के किनारे उद्यान की रचना करो और उद्यान के मध्य मेरी प्रतिमा की स्थापना करो।'

बस, उसी क्षण से मेरा जीवन, मेरा व्यक्तित्व कुछ का कुछ हो गया। तब से फिर मुझे न भूख-प्यास सताती है और न कोई आधि-व्याधि। देवी की आज्ञा-पालन के लिये ही मैं यहाँ चला आया। उन्हीं अद्भुत बीजों से मैंने इस उद्यान की नींव डाली और बीच में यह भगवती का मन्दिर खड़ा कर दिया। अब आप लोग ही इस 'देवी उद्यान' के स्वामी रहेंगे और आप ही इसके रक्षक।'--विप्रवर, नगर वासियों से ऐसा कह कर वह तपस्वी ब्राह्मण एक दिन अचानक ही यहाँ से लापता हो गया।'

माली के मुख से उद्यान की ऐसी अद्भुत कहानी सुनकर विस्मय से अभिभूत हुआ गुणाढ्य अपने घर लौट आया।

इसके बाद, वसन्त ऋतु आने पर एक दिन राजा सातवाहन उसी 'देवी उद्यान' में अपनी रानियों के साथ विहार करने जा पहुँचा।

वहाँ जलक्रीड़ा करते हुये राजा ने सरोवर में आधी डूबी रानियों पर बारी-बारी से दोनों हाथों से पानी उछालना शुरू कर दिया। तब पानी की बौछार से परेशान होकर एक सुकुमारी रानी ने राजा सातवाहन से प्रार्थना की--'देव, अब बस करो। तुम्हारे हाथ जोड़ रही हूँ--माम् मौदकैः परिताडय !'

मस्ती में डूबे राजा ने अपनी प्रियतमा की इस प्रार्थना का अर्थ यों समझा--'माम्' अर्थात् मुझको, 'मौदकैः' अर्थात् लड्डुओं से, 'परिताडय' अर्थात् मारो। बस, उसने फ़ौरन सेवकों को आदेश दिया, सेवक दौड़े-दौड़े गये और लड्डुओं से भरा थाल उठा लाये !

लड्डुओं का थाल आया देख विदुषी तरुणी रानी हँसने लगी। मधुर हँसी के बीच विनोद भरी वाणी में उसने कहा--'इस समय इन लड्डुओं को मँगाने की क्या तुक थी महाराज ? आपने तो कमाल ही कर दिया !'

फिर उसने हँसते-हँसते ही राजा को समझाया--'मैंने आपसे कहा था--मोदकैः परिताडय, जिसके टुकड़े थे--मा + उदकैः, परिताडय, यानी पानी से चोट मत मारो, परन्तु आपने मँगा लिये थाल भर लड्डू ! यानी अब आप पानी छोड़, मुझे इन लड्डुओं से मारेंगे ! वाह महाराज, क्या तो मैंने कहा था और क्या आप समझे ! धन्य हैं आप !

राजा चुप। रानी खिलखिलाकर हँसने लगी। हँसी बिखेरती रानी ने आस-पास पानी में ऊधम मचाती अपनी सपत्नियों से मुख़ातिब होकर कहा--'सुनो सखियो, एक मज़ेदार बात सुनो, हमारे श्रीमान्‌जी को कितना शब्द-ज्ञान है, सुनो ज़रा कि मा + उदकैः इन दो शब्दों की सन्धि से मोदकैः शब्द बनता है, आप नहीं जानते। मूर्खता की भी एक सीमा होती है। हमें क्या पता था कि हमारे प्रभु ऐसे महापंडित हैं !'

इतना सुनना था कि सारी तरुणियाँ विनोद से खिलखिला उठीं। चारो ओर से अपनी मूर्खता पर तरुणियों की हँसी के फव्वारे छूटते देख राजा बहुत झेंपा, बहुत कुंठित हुआ--बहुत ग्लानित हुआ।

उसने तत्काल जल-क्रीड़ा बन्द कर दी। बिना कुछ बोले पानी से बाहर निकल आया। मौन धारण किये ही महल में पहुँचा और सीधा शयन-कक्ष में जा घुसा।

वहाँ मुलायम गद्देदार शाही पलंग पर वह पसर गया और अतिशय संतप्त होकर मन ही मन चिल्लाने लगा—'या तो पाण्डित्य या फिर मौत !'

अकस्मात् ही यह राजा को क्या हो गया ? सारे परिजन घबरा उठे—आख़िर इसकी ऐसी अवस्था क्यों हो गई ? किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि मामला क्या है—राजा की परेशानी का कारण क्या है ?

न तो राजा ने अपने मुख से कुछ कहा और न कोई भय के मारे उससे जाकर कुछ पूछ ही सका और इसी उधेड़बुन में पूरा दिन बीत गया।

साँझ डूबते-डूबते गुणाढ्य और शर्ववर्मा—इन दोनों मंत्रियों को राजा की अस्वस्थता का समाचार मिला तो वे दोनों भागे-भागे राजमहल पहुँचे।

राजा के ख़ास सेवक राजहंस को अकेले में बुलाकर उन्होंने राजा का हाल-चाल पूछा। सेवक राजहंस ने लम्बी साँस लेकर कहा—'क्या बतलाऊँ पूज्यवर, ऐसी हालत तो राजाजी की कभी न हुई थी। रानियों की बातें मैंने ज़रूर सुनी हैं। महाराज विष्णुशक्ति की बेटी छोटी रानी के बारे में वे सब आपस में बड़बड़ा रही थीं कि—वह अपने को बड़ी भारी विदुषी समझती है। उसी ने जाने क्या उल्टी-सीधी बात कहकर राजा की मज़ाक उड़ाई। बस, तभी से वे गुमसुम होकर भीतर पड़े हैं।

गुणाढ्य ने शर्ववर्मा से धीरे-धीरे कहा—'यदि कोई बीमारी होती, राजवैद्य को बुला लिया जाता। परन्तु मन के रोग का इलाज भला कौन करेगा ? समझ में नहीं आता, राजा का यह मानसिक रोग वस्तुतः है क्या ? सारा शत्रु पक्ष शान्त है। प्रजा में कहीं कोई उपद्रव नहीं। किसी प्रकार की दूसरी परेशानी भी नज़र नहीं आती। ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ?

सुनकर शर्वशर्मा बोला—'मैं जान गया भाई, राजा की व्यथा-कथा का पता मुझे लग गया। वास्तव में, वह व्यथित है अपनी मूर्खता पर। मैं बहुत

भारी मूर्ख हूँ—यही उसके मन का रोग है। कैसे मैं पंडित बन जाऊँ? यही उसकी बीमारी है। सम्भवतः छोटी रानी ने किसी मूर्खता की बात पर उसका अपमान कर दिया है। छोटी रानी विदुषी है। तुमने शायद ध्यान नहीं दिया। यह सेवक अभी क्या सुना रहा था?'

दोनों मंत्री आलोचना-प्रत्यालोचना करते अपने घर लौट आये। रात यों ही बीती। दिन निकला तो फिर वे दोनों राजा के द्वार पर हाज़िर हो गये। राजहंस आना-कानी करता रहा, पर उसे समझा-बुझाकर वे दोनों शयन-कक्ष के भीतर घुस गये।

विनम्रभाव से गुणाढ्य ने राजा से स्वास्थ्य के विषय में पूछा। राजा चुप रहा। उसने अपना मुँह न खोला। पलक रोके टगर-टगर छत की ओर निहारता चित पड़ा रहा।

उस समय शर्ववर्मा ने निवेदन किया—प्रभु, रात मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा है। आज्ञा हो तो सुनाऊँ।'

राजा के ओष्ठ-सम्पुट खुले, धीरे से कहा—'सुनाइये।'

शर्ववर्मा सुनाने लगा—'महाराज, मैंने स्वप्न देखा कि मेरी आँखों के सामने ही आकाश से एक सहस्रदल कमल नीचे धरती पर आ गिरा। धरती पर गिरते ही अपने आप उस कमल की पंखुड़ियाँ धीरे-धीरे खुलने लगीं। फिर खिले कमल के मध्य एक श्वेताम्बरा दिव्य नारी प्रकट हुई। और मेरे देखते-देखते ही वह दिव्य नारी कमल से बाहर आ आपके मुख में प्रवेश कर गई। बस, तभी मेरी आँख खुल गई। देव, मेरा दृढ़ विश्वास है, वे साक्षात् माता सरस्वती ही थीं जो इस प्रकार आपके मुख में समा गईं।'

जाने क्या हुआ कि राजा सातवाहन उठ कर बैठ गया। तनिक देर रुका फिर गुणाढ्य को लक्ष्य करके पूछने लगा—'प्रयत्न करने पर कोई आदमी कितने समय में पंडित हो सकता है? आप स्वयं विद्वान् हैं, आप मुझे यह बात बतलाइये। विद्या-ज्ञान के बिना मुझे यह सारा राज-वैभव अति तुच्छ लग रहा है। यह राजसी ठाठ-बाट मुझे ऐसा लग रहा है मानो किसी

ठूँठ को आभूषण पहिना दिये गये हों। बोलिये आप, मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये।'

गुणाढ्य ने शान्त स्वर में समझाया—'राजन्, बारह वर्षों में मनुष्य को सारी विद्याओं के मुख व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान हो पाता है—यही प्रसिद्धि है। परन्तु मैं आपको केवल छः वर्ष में ही व्याकरण का पंडित बना सकता हूँ।'

शर्ववर्मा तुरन्त ही बोल उठा—'सुखी जीवन बितानेवाला व्यक्ति इतनी सालों के ज्ञानोपार्जन का क्लेश भला कैसे सह पायेगा? राजन्, मैं आपको सिर्फ़ छः महीने में व्याकरण का ज्ञाता बना सकता हूँ।'

'यह असम्भव है।'—गुणाढ्य ने कुढ़ कर कहा—'यदि तुम छः मास में महाराज को पंडित बना दो तो मैं हमेशा-हमेशा के लिये संस्कृत भाषा बोलना छोड़ दूँ, प्राकृत भाषा भी छोड़ दूँ और देशी भाषा भी बोलना छोड़ दूँ। मूक बन जाऊँ सदा-सर्वदा के लिये।'

शर्ववर्मा चिढ़कर बोला—'मैं भी शर्त्त लगाता हूँ—यदि छः मास में महाराज को पंडित न बना दूँ, तो बारह साल तक मैं तुम्हारी जूतियाँ अपने सिर पर रक्खे रहूँगा।' और इतना कहकर आवेश से भरा शर्ववर्मा वहाँ से उठ गया। उसके पीछे गुणाढ्य भी चुपचाप चला आया।

चिन्ता से आक्रान्त शर्ववर्मा ने घर पहुँच कर बिना विचारे बदी गई वह भयानक शर्त्तवाली बात अपनी पत्नी को सुनाई तो वह भी दुखी हो गई। दुख में डूबती-उतराती पत्नी ने हौले-हौले शर्ववर्मा को सम्मति दी—'केवल भगवान् स्वामिकार्तिकेय ही इस संकट से आपकी रक्षा कर सकते हैं। उनकी शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई गति मुझे नहीं दीखती।'

'तुम ठीक कहती हो'—शर्ववर्मा ने आश्वस्त होकर कहा—'बस, मैं अब यही उपाय करूँगा। प्रभु स्वामिकार्तिकेय की शरण गहूँगा।'

दृढ़निश्चयी शर्ववर्मा फिर उसी रात पिछले पहर घर से निकल गया।...

राजा सातवाहन को जब यह समाचार मिला तो वह चिन्ता में पड़ गया—अब क्या होगा? अपने पुत्र सिंहगुप्त की सम्मति पर उसने शर्ववर्मा का पता लगाने के लिये अपने दूत भेजे।

दूत चल दिये। शर्ववर्मा को जगह-जगह खोजते अन्त में वे उस देव-स्थान में जा पहुँचे, जहाँ निराहार और निर्जल शर्ववर्मा भगवान् स्वामिकार्तिकेय के आगे धरना दिये पड़ा था।

परिणाम वही हुआ, जिसकी शर्ववर्मा की पत्नी ने कल्पना की थी। कठोर तपस्या और आन्तरिक आराधना से परितुष्ट हुये स्वामिकार्तिकेय ने प्रसन्न भाव से शर्ववर्मा को वर-प्रदान किया—'एवमस्तु। तुम्हारा अभीष्ट तुम्हें अनायास ही मिलेगा।'

सिद्धि प्राप्त करके उत्फुल्ल हुआ शर्ववर्मा उन दूतों के साथ राजधानी में लौट आया। फिर उसने एक शुभ दिन देखकर राजा को शिक्षित करना आरम्भ कर दिया।

देखते-देखते छः मास बीत गये। इन छः मास में ही उसने राजा को अच्छा-खासा पंडित बना दिया। इसके बाद अन्य समस्त विद्याओं का ज्ञान राजा को अनायास ही प्राप्त हो गया। परमेश्वर की करुणा हो तो सभी कुछ सम्भव हो जाता है।

राजा अब महान् विद्वान् हो गये हैं—सारे राष्ट्र में इस तरह खुशियाँ मनाई गईं मानो कोई बड़ा भारी उत्सव किया जा रहा हो।

राजा ने परम सन्तुष्ट होकर अपने विद्यागुरु शर्वशर्मा को रत्नों की ढेरी भेंट स्वरूप अर्पित की। इतना ही नहीं, राजा ने पूरे एक प्रान्त का स्वामित्व भी शर्ववर्मा को दक्षिणा में प्रदान कर दिया।...

गुणाढ्य का फिर क्या हुआ? अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, समाज में प्रचलित तीनों भाषाओं के उच्चारण का परित्याग करके हमेशा-हमेशा के लिये मौनी बना गुणाढ्य अपने दो शिष्यों को साथ लेकर उस नगर से बाहर हो गया।

निरुद्देश्य इधर-उधर घूमता, मौनी गुणाढ्य अन्ततोगत्वा देवी विंध्यवासिनी के दर्शन करके विंध्याटवी में जा बसा। वहाँ रहते हुए गुणाढ्य का वनवासी पिशाचों से सम्पर्क हुआ। उन लोगों को परस्पर चलती बातचीत सुनते-सुनते गुणाढ्य को पैशाची भाषा का ज्ञान हो गया।

यह भाषा तो उसकी प्रतिज्ञा के बाहर थी, इसे वह बोल सकता था। सुतरां उसने अपना मौन तोड़ दिया। उन वनवासियों के साथ वह पैशाची भाषा बोलने लगा।

जीवन का कोई लक्ष्य नहीं। प्रतिज्ञा-बद्ध गुणाढ्य लौटकर सभ्य समाज में जा नहीं सकता—सभ्यों की भाषा बोल नहीं सकता। उसके लिये कोई काम नहीं-धाम नहीं। क्या करे वह ?

मन में एक कल्पना जागी और फिर उस कल्पना को गुणाढ्य ने साकार रूप दे दिया।

उसने कभी अपने प्रिय मित्र काणभूति से सात कथाओं वाली एक लम्बी कथा सुनी थी। उसी विशाल कथा को उसने यहाँ वनवासियों के माध्यम से सीखी पैशाची भाषा में पद्यबद्ध करना आरम्भ कर दिया।

अटवी में भला स्याही कहाँ से उपलब्ध होती ? गुणाढ्य अपनी जंघा चीर कर अपने रक्त की स्याही से भोज-पत्रों पर उन पद्यों को लिपिबद्ध करने लगा।

दो शिष्यों के साथ विंध्याटवी में रहते गुणाढ्य के लम्बे सात वर्ष व्यतीत हो गये। इन सात वर्षों में उसने सात खण्डों वाली 'वृहत्-कथा' की पैशाची-भाषा में पद्य-बद्ध रचना की। वृहत्-कथा के प्रत्येक खण्ड में एक-एक लाख मनोहर पद्य गुम्फित हुये—सात खण्डों में कुल सात लाख पद्य !

रचना पूर्ण हो गई। गुणाढ्य ने आत्मिक शान्ति पाई—सन्तोष पाया।

सात सालों में, रक्त से लिखा यह विपुल कथा-संग्रह किस गुणी को समर्पित किया जाय ? महाकवि गुणाढ्य मन ही मन चिन्तना करने लगा।

तब दोनों शिष्यों ने—गुणदेव एवं नन्दिदेव ने—उत्साहित होकर निवेदन किया—'गुरुदेव, हमारी समझ से इस देश में केवल एक ही व्यक्ति ऐसा है, जो स्वयं काव्य-रसिक है और कविता का पारखी भी है। गुणियों का समादर करने-वाले उस व्यक्ति का नाम है—सातवाहन। हमारी प्रार्थना है, वृहत्-कथा उसी को समर्पित की जाय।'

गुणाढ्य ने तत्काल प्रसन्न मुद्रा से कहा—'एवमस्तु !'

'गुरु के आदेश से दोनों शिष्य वृहत्-कथा को वस्त्र में लपेट कर चल

दिये। लम्बी यात्रा पूरी करके अन्त में वे दोनों राजधानी में जा पहुँचे। अवसर मिलने पर वे दोनों राजा के सम्मुख उपस्थित हुये। विनीत भाव से वृहत्-कथा को आगे रखकर निवेदन किया—'महाकवि गुणाढ्य ने यह ग्रन्थ-रत्न आपको समर्पित किया है। रक्त से लिखी गुरुदेव की इस महान् कृति को स्वीकार करने की कृपा कीजिये।'

किस भाषा में गुणाढ्य ने इस ग्रन्थ को लिखा है? राजा ने जिज्ञासा प्रकट की। पता चला—ग्रन्थ पैशाची भाषा में लिखा गया है।

पैशाची भाषा! तो भी राजा ने कह दिया—'सुनाओ, इस ग्रन्थ का कोई अंश पढ़ कर सुनाओ।'

तब शिष्यों ने सम्हाल कर ग्रन्थ खोला, कुछ पृष्ठ पलटे और फिर पैशाची भाषा में रची गई एक पद्य-बद्ध कथा राजा सातवाहन को सुनाई।

अपने विद्या-ज्ञान के मद में चूर राजा थोड़ी देर तो चुप ही रहा फिर उसने अरुचिपूर्वक उन शिष्यों से कहा—'पैशाची भाषा में, रक्त से लिखी यह सात लाख नीरस पद्यों वाली गुणाढ्य की वृहत्-कथा वस्तुतः पिशाचकथा ही है। ऐसे गर्हित ग्रन्थ को लेकर मैं क्या करूँगा?'—इतना बोल कर राजा फिर चुप हो गया।

उदास-खिन्न हुये शिष्यों ने ग्रन्थ को पुनः वस्त्र में लपेट लिया। राजा को प्रणाम किया और चुपचाप उठकर चल दिये।

फिर लम्बी यात्रा तय की। श्रान्त-क्लान्त चेहरे लिये, दिन डूबते समय वे अपनी कुटिया के द्वार पर पहुँचे। निःशब्द ही गुरुदेव के चरणों में शीश नमाया। रात को फिर बात हुई—राजधानी में, राजा के मुख से जो कुछ सुना था, शनैः शनैः गुरुदेव को अक्षरशः सुना दिया।

किसी तत्त्वज्ञ के द्वारा यदि किसी महान् कलाकृति की इस तरह अवज्ञा की जाय, तो किस कलाकार को आन्तरिक सन्ताप और क्लेश न होगा? गुणाढ्य का कवि-हृदय इस अप्रत्याशित घटना से मानो विदीर्ण हो गया।

किसी भी कवि को अपने काव्य पर उतना ही प्यार होता है—उतना ही मोह होता है, जितना अपनी सन्तान पर। उसी सन्तान का ऐसा असहनीय

तिरस्कार—ऐसी अवमानना होती देख महाकवि गुणाढ्य की अन्तरात्मा गहरे विषाद-सागर में डूब गई।

जीवन विश्री हो उठा, हृदय का रस ही जैसे सूख गया, मन का सुख-चैन जाता रहा। जिस कुटिया में बैठकर गुणाढ्य ने वृहत्-कथा की रचना की थी, वह कुटिया भी अब उसे काटने लगी।

गुणाढ्य ने वह भूमि छोड़ दी। शिष्यों के साथ आगे बढ़ गया। पहाड़ियों के बीच कहीं थोड़ी-सी चौरस ज़मीन थी, एकान्त और शान्त। गुणाढ्य ने वहीं डेरा डाला। वहीं फिर अग्निकुण्ड खोदा। कुण्ड में अग्नि प्रज्ज्वलित की। फिर अपनी कृति लेकर धधकते अग्निकुण्ड के पास आ बैठा।

सांस रोके दोनों शिष्य अपलक देखते रहे। महाकवि ने वृहत्-कथा का प्रथम पृष्ठ उठाया। सस्वर काव्य-पाठ शुरू किया। सामने बैठे दोनों शिष्य उस कविता-माधुरी को पीते रहे। महाकवि की स्वर-लहरी से आकर्षित हो हिरणों की टोली वहाँ आ खड़ी हुई। आस-पास के वृक्षों पर चारो ओर से वन के पंछी आ बैठे। दुःख में डूबा कवि रक्त से लिखी कविता की एक-एक पंक्ति पढ़ता गया—पढ़ता गया।

परन्तु यह क्या हुआ ?

अन्तिम पद्य पूरा होते ही महाकवि ने वह प्रथम-पृष्ठ आँखें मूँद कर अग्नि-कुण्ड में फेंक दिया। लपलपाती वह्निज्वाला के बीच वह भोज-पत्र देखते-देखते जलकर राख हो गया।

स्तब्ध हुये शिष्य देखते रहे। पशु-पक्षी देखते रहे। आँखों में आँसू लिये महाकवि ने अगला पृष्ठ उठाया। गद्गद स्वर से आगे के पद्य पढ़े, फिर उस पृष्ठ को भी आग में झोंक दिया।

फिर अबाधगति से यही क्रम चलने लगा। हर पृष्ठ को एक बार गुणाढ्य पढ़ता, पढ़कर अग्नि-कुण्ड में झोंक देता। पढ़ता और झोंक देता—पढ़ता और झोंक देता। कौन रोके गुणाढ्य को ? किसमें सामर्थ्य है ?

निःशब्द आँसू बहाते शिष्य बैठे रहे। जड़ हुये वन के पशु-पक्षियों ने तृणा-

हार छोड़ा। चारो ओर से उनकी भीड़ एकत्रित हो गई। कहीं कोई पत्ता तक हिल न रहा था। सारा जड़-चेतन उदासी में डूबा खड़ा था।

अवसाद की घनी छाया तले, 'होता' बना गुणाढ्य अविराम गति से उस दारुण 'होम' को चलाता रहा। चट-चटाती समिधाओं के बीच वृहत्-कथा के पृष्ठों की आहुतियाँ वह देता रहा।

दिन बीते, रातें बीतीं, सप्ताह बीते—पर वे आहुतियाँ न रुकीं, होम बन्द न हुआ। यहाँ तक कि वृहत्-कथा के छः खण्ड—छः खण्डों के छः लाख पद्य गुणाढ्य ने अग्निदेव को समर्पित कर दिये।

निश्चय ही अब वह अवशिष्ट रहे सातवें खण्ड से इस यज्ञ की पूर्णाहुति कर देगा। सारी वृहत्-कथा भस्मीभूत! महाकाव्य समाप्त!...

जाने कैसे इस दारुण व्यवसाय की भनक राजा सातवाहन के कानों में पड़ी। वह अवाक् रह गया, फिर सारा राजकाज छोड़कर भागा-भागा यहाँ आया।

राजा ने अपनी आँखों से होम होता देखा। हाय, महाकवि पागल हो गया है क्या? हाय, वास्तविक अपराधी तो स्वयं वही है। हाय, उसी के कारण तो यह महान् कृति अग्नि की भेंट चढ़ गई!

लज्जा, व्यथा और पश्चात्ताप में आकण्ठ निमग्न राजा सातवाहन सुध-बुध बिसार कर महाकवि के चरणों में लोट गया।

चरणों में सिर रक्खे राजा रो-रोकर कहने लगा—'यह तुमने क्या किया बन्धु? मणि-माणिक्यों की राख क्यों बना दी सखा? यह बलि अब रोक दो। तुम्हें मेरे प्राणों की सौगन्ध है महाकवि, अब यह होम बन्द कर दो!'

महाकवि के चरणों में सिर दिये राजा रो रहा था। सामने बैठे दोनों शिष्य रो रहे थे। आस-पास बैठे वन के पशु-पक्षी रो रहे थे। सारी प्रकृति ही मानों आँसुओं से भीग रही थी।

गीली पलकें लिये गुणाढ्य ने राजा को कन्धे पकड़ कर उठाया। एक बार उसका आँसुओं से भीगा चेहरा देखा और फिर उसे छाती से लगा लिया।

इतनी देर बाद महाकवि ने अपना मुख खोला, रुँधे कण्ठ से पैशाची भाषा में कहा हौले-हौले—'बन्धु, तुमने बहुत देर कर दी। सब समाप्त हो गया। मैंने तो तुम्हें ही वृहत्-कथा अर्पित की थी। अब मैं तुम्हें क्या भेंट करूँ? देख रहे हो, तुम्हारे सामने यह अग्नि-कुण्ड में वृहत्-कथा की चिताभस्म पड़ी है!'

राजा ने अनुनय के स्वर में कहा—'यह अवशिष्ट अंश तो मुझे दे दो। मेरी इतनी प्रार्थना मान लो।'

'ले लो। एक खण्ड बच रहा है। ले लो इसे।'

उसी अवशिष्ट अंश को छाती से लगाये राजा सातवाहन महाकवि को प्रणाम करके चले गये।

राजा चले गये। अग्नि-कुण्ड की ज्वालायें शान्त हो गई थीं। महाकवि का संतप्त हृदय भी शान्त हो गया था। अब कुछ भी कृत्य शेष नहीं रहा।

उसी बुझे हुये अग्निकुण्ड के समीप महाकवि ने अपना तपःपूत कृश शरीर छोड़ दिया। अनन्त ज्योति में ज्योति लीन हो गई।

वहीं उस पुण्यस्थली में गुरुदेव का दाह-संस्कार करके दोनों शिष्य भी राजधानी लौट गये।

महाकवि गुणाढ्य की अपनी कहानी का उपसंहार हो गया।

यदि राजा सातवाहन ने वह गर्वोक्ति न की होती—उस अनुपम कृति को समादर दिया होता, तो आज गुणाढ्य की वृहत्-कथा अपने पूर्ण कलेवर में, सात लाख पद्यों के रूप में, विश्व में जीवित होती। भारतीय साहित्य उससे समृद्ध हुआ होता—जाति गौरवशालिनी होती।

देश का दुर्भाग्य था—वह अमूल्य ग्रन्थ-रत्न अपने ही स्रष्टा के हाथों राख बन गया।

एक अहंकारी राजा की छोटी-सी भूल का ऐसा भयंकर दुष्परिणाम हुआ! ...अनुतप्त राजा ने राजधानी में लौट आकर, पैशाची भाषा के विज्ञ उन्हीं दोनों

शिष्यों के माध्यम से वृहत्-कथा के शेष बचे एक खण्ड का संस्कृत भाषा में अनुवाद करा लिया।

राजा सातवाहन को स्वर्गवासी हुये दो हज़ार वर्ष हो चुके। परन्तु वृहत्-कथा के एक खण्ड की संस्कृत छाया विश्व में आज भी जीवित है और आगे भी जीवित रहेगी।

उसी खण्ड की कुछ मनोरम कथायें इस संग्रह में हिन्दी भाषा में रूपान्तरित की गई हैं।

—महाकवि गुणाढ्य को शत-शत प्रणाम।